आयुर्वेद ग्रन्थ-कल्पलता का प्रथम पल्लव।

रोग-परिचय।

अर्थात्—

माधव निदान की मधुकोष नामक टीका
[पञ्चलक्षण] का भाषानुवाद।

लेखक
भिषग्वर पं० पूर्णदत्त जी के पुत्र, वि० प्रा० वैद्य सम्मेलन
से स्वर्ण-पदक प्राप्त, काशीस्थ विद्वत्परिषद् के
आयुर्वेद-परीक्षक, वैद्य हरि नारायण
शर्मा काव्यतीर्थ।

प्रकाशक—
पं० रामनारायण वैद्य।

प्रथमावृत्ति]   सं० १९७५।   मूल्य ॥)

जे० एन० राव द्वारा नागेश्वर प्रेस,
बांसका फाटक काशी में मुद्रित ।

पुस्तक मिलने के पते —

(१) आयुर्वेद ग्रन्थ कल्पलता
कार्यालय, भदैनी काशी ।

(२) पं० रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल
बुकसेलर कचौरी गली,
बनारस सिटी ।

समर्पण-पत्र ।

यह पुस्तक रीवां मण्डलान्तर्गत "झिरना" पत्तनाधिपति श्रीमान् बाबू बेणीमाधव प्रसाद सिंह जी के कर-कमलों में लेखक द्वारा सादर समर्पित हुई ।

वक्तव्य।

संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसे कभी रोग न हो। कोई न कोई रोग सबको घेरता रहता है, कहा भी है "शरीरं व्याधि मन्दिरम्"। उन रोगोंसे मुक्त होने के लिये करुणा-सागर मुनियों ने अनेक उपाय लिखे हैं। पर उन उपायों का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब रोग पहचान लिया जाय, नहीं तो एक रोग पर दूसरे रोग को औषधि देने से महान् अनर्थ हो जा सकता है।

व्याधेस्तत्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः॥

इस श्लोक में वैद्य का पहला और सबसे आवश्यक गुण यही बतलाया गया है कि उसे रोगों की पूरी पहचान हो, अर्थात् वह रोगों का निदान जानता हो। इसी बात को विचार कर आयुर्वेद मर्मज्ञ वैद्यवर माधव ने ऋषि-प्रणीत अनेक ग्रन्थों से छिन्न भिन्न रोग-विज्ञानों (निदानों) को इकट्ठा कर "माधव निदान" नामक एक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि और भी बहुत से निदान-ग्रन्थ बने, पर सबसे श्रेष्ठ माधव निदान ही को समझ कर श्री विजय रक्षित ने "मधुकोष" नामक इसकी टीका रची। यद्यपि "आतङ्क दर्पण" आदि अन्य टीकायें भी माधव निदान पर हैं, तथापि मूल पुस्तक का जितना भाव मधुकोष से निकलता है उतना और किसी से नहीं। प्रस्तुत पुस्तक उसी मधुकोष के एक अंश (पञ्चलक्षण) का भाषानुवाद है। पञ्चलक्षण सम्पूर्ण निदानों का सार है, और उस पर भी मधुकोष के पञ्चलक्षण में विजय रक्षित-

ने निदान की सारी मूल बातें भर दी हैं, जिनके पढ़ने से चिकित्सा का वास्तविक तत्व मालूम हो जाता है, किन्तु यह टीका इतनी कठिन है कि जल्दी लगती नहीं। मैंने टीका-कार की पंक्ति का प्रतीक देकर अनुवाद किया है, जिससे केवल हिन्दी जानने वाले वैद्यों को तो लाभ हो ही, किन्तु अल्प संस्कृतज्ञ भी इसके प्रतीक को देखकर टीका लगा लें।

टीका में जहां अन्य शास्त्रीय विषय—सांख्य, व्याकरण, न्याय आदि आया है, उसके समझाने में मैंने अपने भरसक खूब प्रयत्न किया है। जो बातें मूल में लिखने लायक नहीं थीं, उन्हें नोटों में स्पष्ट किया है। अक्षरशः अनुवाद होने के कारण सम्भव है कि इस पुस्तक की हिन्दी कहीं अच्छी न हो, परन्तु इससे प्रस्तुत विषय की कोई हानि नहीं होती। अनुवाद करने में मैंने कहां तक सफलता प्राप्त की है, यह निर्णय करना विज्ञ-पाठकों के ही ऊपर निर्भर है। मेरे इस प्रयत्न से यदि वैद्यों का कुछ भी उपकार हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा और आगे फिर ऐसी ही सेवा करने का साहस कर सकूंगा। कुछ मेरे और कुछ प्रेस के प्रमाद से कई स्थानों पर छापे की छोटी छोटी अशुद्धियां रह गई हैं। विज्ञ पाठक उन्हें सुधार लें। अनुवाद की शैली या विषय को और भी सुन्दर करने के लिये यदि कोई सभ्य पाठक कोई उपाय बतलाने की कृपा करेंगे तो मैं उनके परा-मर्शों को सहर्ष ग्रहण करके पुस्तक के दूसरे संस्करण में उन पर विचार करूंगा और उन महाशयों को धन्यवाद दूंगा।

सुहृद्वर स्वर्गीय पं० राधा कृष्ण उपाध्याय काव्य पुराण तीर्थ आशु कवि और पं० चन्द्रमौलि सुकुल एम०ए० एल. टी.

प्रोफेसर ट्रेनिंग कालिज काशी हिन्दू विश्व विद्यालय ने मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया,

तथा श्रद्धास्पद पं० केशव प्रसाद मिश्र संस्कृताध्यापक सेंट्रल हिन्दू स्कूल काशी ने अपना अमूल्य समय देकर इसके कुछ फार्मों का संशोधन किया, एतदर्थ आप लोगों को अनेक धन्यवाद है।

भदैनी, काशी।
दीपावली, सं० १९७६ वि.
गुरुवार
२३ अक्तूबर सन् १९१९

हरि नारायण शर्मा।

वैद्य

प्राचीन और अर्वाचीन वैद्यक सम्बन्धी

मासिक पत्र ।

यह पत्र प्रतिमास प्रत्येक घर में उपस्थित होकर एक सच्चे वैद्य या डाक्टर का काम करता है। इसमें स्वास्थ्य रक्षा के सुलभ उपाय, आरोग्यशास्त्र के नियम, दिनचर्य्या, ऋतुचर्य्या, शारीरिक, इन्द्रिय विज्ञान, प्राचीन और अर्वाचीन वैद्यक के सिद्धान्त भारतीय-ओषधियों का अन्वेषण, फल, शाक, दूध, दही, घी, अन्न, जल, वग़ैरह नित्यप्रति खाने के पदार्थों का सविस्तार वर्णन तथा धातु, रस, आदि का विवेचन, स्त्री, पुरुष और बालकों के कठिन रोगोंका इलाज, परीक्षित योग आदि उत्तमोत्तम और सर्वोपयोगी लेख प्रकाशित होते हैं। इसकी वार्षिक फ़ीस केवल १।) रु० मात्र है।

वैद्य शंकरलाल हरिशंकर

"वैद्य-आफिस," मुरादाबाद (यू॰ पी)

॥ श्रीः ॥

रोग-परिचय

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारम् त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥

आयुर्वेदप्रवर्तारम्पद्मयोनिं विनायकम् ।
शारदां शङ्करञ्चैव वन्देहम्पितरौ गुरून् ॥

वृन्दावन जमुना निकट खेलत गोपिन संग ।
वंशीधर वह साँवरौ करै अमङ्गल भङ्ग ॥

शशिरुचिरेति—जिन विष्णु भगवान् के आधे शरीर में चन्द्रमा के सदृश सुन्दर शिवजी का आधा शरीर साफ झलक रहा है तथा जिनकी अर्धश्वेत और अर्धश्याम नाभि में कमल ऐसा शोभा दे रहा है मानो गङ्गा और यमुना के मिले हुए जलकी भँवरी में ही वर्तमान है, ऐसे जलभरे बादलों की घटा के समान सुन्दर, पद्मनाभ श्रीविष्णु भगवान् तुम लोगों को श्री* अर्थात् धर्म, अर्थ और काम प्रदान करें ।

भट्टारेति—भट्टार, जेज्जट, गदाधर, बाप्यचन्द्र, चक्रपाणि, वकुल, ईश्वरसेन, भोज, ईशान, कार्तिक, सुकीर, मैत्रेय, और माधव आदि विद्वान् वैद्यों के ग्रन्थों का विचार पूर्वक अवलोकन कर तथा और भी अनेक वैद्यक शास्त्रों का मनन

---

* श्रीस्त्रिवर्गसम्पद्विभूतिः । इति व्याडिः ।

कर मैं इस ग्रन्थ की टीका करने उद्यत हुआ हूं। सज्जनों को चाहिए कि इसमें जहाँ कहीं किसी प्रकार का दोष देखें तो उसका समाधान करदें, क्योंकि यह नियमहै कि एक मनुष्य सभी विषयों को नहीं जानसकता; अतएव बहुत दिनों में सोच विचार कर मनुष्य यदि कोई ग्रन्थ लिखे तो भी उसमें कोई न कोई दोष रहता ही है।

तत्तदिति—जैसे भँवरा अनेक वृक्षों के सुगन्धित फूलों से थोड़ा २ मधु लेकर किसी जगह मधुकोश (छत्ता) बना लेता है वैसे मैंने भी (विजय रक्षित) अनेक ग्रन्थरूपी वृक्षों के व्याख्या कुसुमों से रस इकट्ठा करके इस व्याख्या के रूप में मधुकोश बनाना आरम्भ किया है।

उपयुक्तमिति—जिन आवश्यक निदानों को इस ग्रन्थ में माधवने नहीं लिखा, उन्हें भी मैं ग्रन्थ की व्याख्या करने के समय प्रसङ्गवश लिख दूंगा।

अथाति—आयुर्वेद के परम मर्मज्ञ श्री माधवकरने उन वैद्यों पर कृपा कर, जिन्हें यह उत्कण्ठा थी कि कोई ऐसा ग्रन्थ बने जिसके द्वारा सम्पूर्ण रोगों के निदान और पूर्वरूप आदि के तत्त्वोंको हमलोग सहज में जानलें,-यह ग्रन्थ बनाना आरम्भ किया।

परन्तु ग्रन्थ बनाने में विघ्न बहुत हुआ करते हैं इसलिए विघ्नों को शान्त करने के लिए जैसे कि श्रेष्ठलोग करते आये हैं उन्हीं के अनुसार अपने इष्ट देवता का प्रणाम करने के लिये पहले मंगल श्लोक ही बनाया। अच्छा, मंगल किया इसलिए कि विघ्न शान्त हों पर उसे यहां लिखा क्यों ? इस पर लिखते हैं " ग्रन्थश्रोतृणां " अर्थात्

विश्वेश्वर भगवान् महादेवजी को मैंने जिसश्लोक द्वारा प्रणाम किया है उसश्लोक को इसग्रन्थ के पढ़नेवाले यदि एकबार पढ़लेंगे तो उनके भी विघ्न शान्त होजांयगें यह समझ कर 'प्रणम्य' इसश्लोक को ग्रन्थके आदिमें लिखा है। अत्रेति यहां प्रणम्य के प्रशब्द से यह टपकताहै कि माधवकरने अत्यन्त भक्ति से शिव जीको नमस्कार किया।

प्रपूर्वक नम्धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर और मकार के लोप होने के बाद प्र और नत्वा के साथ समास होता है बाद "त्वा" के स्थान में य (ल्यप्) आदेश होकर प्रणम्य पद सिद्ध होता है, परन्तु "क्त्वा" प्रत्यय करनेवाले "समान कर्तृकयोः पूर्वकाले" सूत्र का अर्थ है—एक कर्ता को दो क्रियाएं हो, उन दोनों क्रियाओं में प्रथम क्रियावाची धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है जैसे "भुक्त्वा व्रजति" वह खाकर जाता है। यहां व्रज् धातु (जाना क्रिया) और भुज् धातु (खाना क्रिया) इन दोनों धातु (क्रियाओं) का एकही कर्ता है अर्थात् जो खानेवाला है वही जानेवाला है; इस लिये उन दोनों क्रियाओं में पहिली क्रिया "भुज्" ही से क्त्वा प्रत्यय हुआ। परन्तु "प्रणम्य" इस श्लोक में दूसरी क्रिया नहीं है, इस लिए दो क्रियाओंके न होनेसे प्रणम्य पहिली क्रिया कहलायगी नहीं, अतएव नम् धातु से क्त्वा प्रत्यय कैसे हुआ? इसी शङ्का को "निबध्यत क्रिया-पेक्षया" इत्यादि वाक्य द्वारा प्रकट करते हुए उत्तर देते हैं। अर्थात् यद्यपि इस श्लोक में कोई दूसरी क्रिया नहीं है तथापि "नाना मुनीनां" इसश्लोक की "निबध्यते" क्रिया को लेकर दो क्रियायें होती हैं; क्योंकि "प्रणम्य" इसका अन्वय

निबध्यते क्रिया से ही पूरा होता है, इस लिए "निबध्यते" और "प्रणम्य" इन दोनों क्रियाओं में पहिली क्रिया "नम्" मे क्त्वा प्रत्यय हुआ। यहाँ जगत् पद से, उत्पन्न भये हुये चर-मनुष्य आदि और अचर-पृथिवी आदि सभी का ग्रहण होता है। ऐसे जगत् की उत्पत्ति अर्थात् स्वकारण समवाय. * स्थिति अर्थात् कुछ दिनतक अपने स्वरूप से वर्तमान रहना और ध्वंस, अर्थात् नाश के कारण अर्थात् चर और अचर रूपी जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और नाश करनेवाले। तथा स्वर्ग-[1]सुख और अपवर्ग-मोक्ष,-जिस में सब दुःख[2] सदा के

---

* स्वकारणे कार्यस्य समवायो जन्म । स्वस्मिन्नसति कार्ये सत्तासमवायो वा जन्म । इति समानभामतीपाठव्याख्याने कल्पतरुकारः ।

स्व=अपने (कार्य के) कारण का समवाय-इकट्ठा हो जाना ही जन्म है जैसे कपड़ा के कारण सूतों के इकट्ठा हो जाने ही से कपड़ा कहलाता है क्योंकि जबतक कपड़ा का कारण सूत आपस में इकट्ठा रहते हैं तभीतक कपड़ा कहलाता है, परन्तु जब एक २ सूत अलग हो जाता है तब सूत ही कहलाता है कपड़ा नहीं। इसी तरह जगत् भी अपने कारण का समूहरूप ही है।

(१) यन्न दुःखेन संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

जहां दुःख का लेशभी न हो और न कोई वस्तु दुःख से युक्त हो इच्छा से पायेहुए ऐसे स्वर्ग को सुख कहते हैं।

[२] दुःख तीन प्रकार के होते हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-

लिए छूट जाते हैं, इनदोनों को द्वार अर्थात् प्रधान कारण। "स्वर्गापवर्गयोर्द्वारम्" इस पद द्वारा यह जान पड़ता है कि शिवजी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों के कारण हैं; क्योंकि सुख मिलना और दुःख का नाश होजाना इनदोनों के अतिरिक्त कोई दूसरा पुरुषार्थ है ही नहीं; क्योंकि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का अन्तिम फल सुख और मोक्ष ही है। अतएवेति-सुख और मोक्ष के प्रधान कारण होनेही से, त्रैलोक्य-स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन तीनों लोक के शरण[3] अर्थात् रक्षा करने वाले [शिवजी को प्रणाम करके ग्रन्थ बनाता हूं।

एक ही बात को दोबार कहने से पुनरुक्त दोष होता है। इसश्लोकमें भी "जगदुत्पत्तिस्थिति" इत्यादि से शिव जी को जगत् की स्थिति का कारण-जगत् का रक्षक लिखा है फिर दूसरी बार "त्रैलोक्यशरणम्" इससे भी रक्षक ही मानाहै अतएव "शिवजी जगत् के रक्षक हैं" इसी

दैविक। आध्यात्मिक दुःख भी दो तरह के होते हैं। शारीरिक और मानसिक। वात, पित्त और कफ के विषम होने से भई हुई व्याधि को (शरीर को अधिक दुःख होनसे) शारीरिक दुःख कहते हैं और काम, क्रोध, लोभ आदिसे भये हुए दुःख को (मनको अधिक दुःख होने से) मानसिक दुःख कहते हैं। येही दोनों दुःख आध्यात्मिक कहलाते हैं। मनुष्य, पक्षी, पशु, सर्प, अग्नि और वृक्ष आदि से भये हुए दुःख को आधिभौतिक कहते हैं। यक्ष, राक्षस, पूतना और भूत प्रेत आदि से भये हुए दुःख को आधिदैविक कहते हैं।

[३] शरणं गृहरक्षित्रोः, इत्यमरः। शरण=घर, रक्षक।

को दोबार लिखनेसे यहां पुनरुक्त दोष हुआ। इसीबात को "नचोक्त" इत्यादि पद द्वारा दिखलाया है। (जगच्छब्दे- नेति-) परन्तु वास्तव में पुनरुक्त दोष यहां नहीं है, क्योंकि "गच्छतीति जगत्" इस व्युत्पत्ति द्वारा जगत् शब्द केवल जङ्गम—चलने वाले ही प्राणियों का वाचक है और त्रैलोक्य शब्द तीनों लोक के चेतन—चर और अचेतन—अचर आदि सभी का वाचक है, इसलिए जगत् और त्रैलोक्य शब्दके एक अर्थ न होने से पुनरुक्त दोष न हुआ। त्रैलोक्य के लोक शब्द का अर्थ भुवन और जन (लोग) दोनों ही अर्थ है। "लोकस्तु भुवन जने" अमर कोश। त्रैलोक्य शब्द त्रिलोक शब्दसे "चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्" इस वार्तिक से ष्यञ् प्रत्यय करने पर बना है जैसे चतुर्वर्ण शब्द से "चातुर्वर्ण्य" शब्द बना है। हरादिपर्यायानिति—इस श्लोक में माधवकरने शिवजी के हर, भूतेश और पिनाकी आदि नाम न लिखकर शिव शब्द इसलिए लिखा जिस से ग्रन्थ[1] और ग्रन्थ के पढ़नेवालों का कल्याण हो, क्योंकि जगत के कल्याण करने ही से महादेवजी "शिव" कहलाते हैं।

नाना मुनीनां वचनैरिदानीं, समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्॥२॥

ग्रन्थ का—विषय, सम्बन्ध, और प्रयोजन बिना जाने विद्वान् लोग ग्रन्थ के अवलोकन में प्रवृत्त नहीं होते। अतएव

(१) ग्रन्थ जला न दिया जाय, जल में गल न जाय आज, कल के तरह द्वेष से कोई गुप्त (जप्त) न कर ले यही ग्रन्थ का कल्याण है।

इस ग्रन्थ में उन तीनों बातों को दिखलाने के लिए "नाना मुनीनां" इत्यादि दो श्लोक लिखाजाता है। रोगों का विशेष करके अर्थात् वातज, पित्तज, कफज, और साध्य, दुःसाध्य, असाध्य और याप्य, इत्यादि भेदोंसे निश्चय अर्थात् ज्ञान जिस ग्रन्थ से हो वह रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ हुआ। निबध्यते=कहतेहैं, अर्थात् बनाते है, "नाना मुनीनां" इस श्लोक में निबध्यते क्रिया के साथ अन्वय होने के लिए (अस्माभिः) इस पद का अध्याहार अवश्य करना चाहिए, क्योंकि कर्ता के बिना क्रिया नहीं रहसकती। रोग विनिश्चय इसका विशेषण है "सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गः" अर्थात् उपद्रवादिकों के सहित जो रोगविनिश्चय ग्रन्थ। इस विशेषण के देनेसे उपद्रव, अरिष्ट, लिङ्ग और निदान, ये चार इस ग्रन्थ के विषय समझे गये, क्योंकि इनसे अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कोई विषय है ही नहीं, तथा ग्रन्थ और उपद्रवादिकों के साथ वाच्यवाचक नामक सम्बन्ध हुआ। जो कहा जाय उसे वाच्य कहतेहैं और जो कहता है उसे वाचक कहते हैं। उपद्रवादिक इसग्रन्थ से कहेजायँगे अतएव ये वाच्य हुए, और यह ग्रन्थ इन्हे कहेगा अतएव यह ग्रन्थ वाचक हुआ इस लिए दोनों के साथ वाच्यवाचक नामक सम्बन्ध हुआ। जो दोष एक रोग को उत्पन्न करके फिर कुपित होकर उसी रोगमें यदि दूसरे किसी रोग को उत्पन्न कर देता है तो उस दूसरे रोग को उपद्रव कहते हैं। जैसे वात दोष से ज्वर हुआ फिर वही वात कुपित होकर उसीज्वर में खाँसी, अतीसार और अरुचि आदि रोगों को यदि उत्पन्न करदे तो खाँसीआदि ज्वर के उपद्रव कहलाँयगे। जिन

लक्षणोंसे रोगी के मरण का ज्ञानहो उनलक्षणोंको अरिष्ट कहते हैं। जैसे " यो हृष्टरोमा रक्ताक्षः " इत्यादि लक्षण यदि ज्वरी पुरुष में पायेजांय तो वह पुरुष बच नहींसकता अतएव ये लक्षण अरिष्ट हुए। जिन कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं उन कारणों को निदान कहते हैं। जैसे मिट्टी के खानेसे पाण्डु रोग उत्पन्न होता है अतएव पाण्डुरोग का मिट्टी निदान हुई। जिन लक्षणों से रोग पहचानाजाय उनलक्षणों को लिङ्ग कहतेहैं जैसे कंधे पसुली में पीड़ा और हाथपैर में जलन तथा सर्वाङ्ग में ज्वर के होने से राजयक्ष्मा रोग कहा जाता है। तो राजयक्ष्मा के पहचानने में उपर्युक्तरोग कारण हुए, अतएव राजयक्ष्मा के वे सब लिङ्ग हुए। "लिङ्ग्यते ज्ञायते व्याधिरनेन " अर्थात् जिससे व्याधि जानीजाय उसे लिङ्ग कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति का भी ग्रहण हुआ, क्योंकि इनसे भी रोग का ज्ञान होता है। यद्यपि केवल निदानही से रोग का ज्ञान होसकता है तथापि रोगकी उत्पत्ति (पैदाइश) के जानने में निदान और लिङ्ग दोनो कारण हैं इसलिए दोनों कारणों को दिखलाने के लिए लिङ्ग अलग कहा। इन उपद्रवादिकों का विस्तार आगे कहेंगे।

रोग के निदानआदिका तत्व बड़ाही सूक्ष्महै, अतएव जिन्हे कम समझ है वे इन्हें नहीं जानसकते तो विद्वान लोग इनके उपदेश कैसे करने लगगये ? इस आशय पर लिखते हैं " नाना मुनीनाम् " इत्यादि। अर्थात् यद्यपि सूक्ष्म है तथापि अनेक मुनियों के वचनों (शास्त्रों) से अवश्य जान सकते हैं। माधव ने नानामुनीनाम् इत्यादि पदसे अपने ग्रन्थ

को प्रमाणित बतलाया। मुनि उन्हे कहते हैं जिन्हे अपने तप और योगबलसे भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंका यथार्थ ज्ञान रहताहै।

यदि मुनियों के वचन से ही निदान आदि का ज्ञान होना है तो उनके वचनों से किसी औरने ग्रन्थ बनाया ही होगा, उसीग्रन्थसे निदानआदि का ज्ञान होही जायगा फिर कृतकरणत्व से अर्थात् कहेहुए विषय को फिर कहनेसे यह ग्रन्थ व्यर्थ ही है इस आशय पर लिखते हैं "इदानीं" अर्थात् पहलेपहल हमी मुनियों के वचनों से इसग्रन्थ के बनाने के लिये उद्यत हुए हैं इसके पहले किसी ने नहीं बनाया है। समासतः-संक्षेपसे। यदि विस्तार से कहगेंतो जिनको कमबुद्धि है वे घबड़ाकर बीचही में इसे छोड़ द ंगे। (नन्विति) अच्छा, बनायाभी ग्रन्थ, लेकिन ग्रन्थकर्ता (माधव) कदाचित अप्रष्ठित हों इसलिए अनादरकी दृष्टि से कोईवैद्य इसग्रन्थको पढ़ेही नहीं तोभी ग्रन्थका बनाना व्यर्थही हुआ। इस आशय पर लिखते हैं—सद्भिषजां नियोगात्। नियोग=नियोजन अर्थात् हमारे उपकार के लिए ग्रन्थकी रचना कीजिए यह प्रार्थना। या नियोग=आज्ञा। भाव यह हुआ कि वैद्यों की प्रार्थना या आज्ञा से माधव ने ग्रन्थ बनाया है यदि वे अप्रतिष्ठित होते तो वैद्य लोग उनसे ऐसी प्रार्थना क्यों करते? अतएव ग्रन्थकारके अप्रतिष्ठित न होनेसे लोग अवश्य पढ़ेंगे, इसलिए ग्रन्थरचना व्यर्थ न हुई। इस लेखसे माधवने अपना विनय भी दिखलादिया।

नानातन्त्रविहीनानाम् भिषजामल्पमेधसाम्।

सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥ ३ ॥

मानातन्त्रेत्यादि—रोगका और रोगके कारण का ज्ञान जल्दी इसी ग्रन्थ से होगा। इससे ग्रन्थ का प्रयोजन रोगज्ञान ही हुआ। फल इसकी चिकित्सा समझनी चाहिये,जैसाकि चरक में लिखा है-पहले वैद्य को रोगकी परीक्षा करनीचाहिए कि कौन रोग है बाद औषध का, अर्थात् किस औषध के देने से यह रोग शान्त होगा। उसकेबाद सावधान होकर चिकित्सा करनीचाहिए।

अच्छा तो मुनियोंके ही वचनों से रोग ज्ञान होजायगा फिर इस ग्रन्थ के बनाने का क्या प्रयोजन ? इस पर लिखते-हैं "अल्पमेधसां" इत्यादि, अर्थात् जिन्हें कम बुद्धि है उनके लिए यहग्रन्थ बनाया; क्योंकि बुद्धिमान्लोग कितनाही भारी से भारी और कठिन से कठिन ग्रन्थ क्यों न हो उसका अध्ययन कर ग्रन्थ का आशय जानही लेते हैं, लेकिन कम बुद्धि वाले नहीं, किन्तु बुद्धिमान्लोग भी आलस्य से मुनिप्रोक्त शास्त्रों की खोज नहीं करते, तथा उनशास्त्रों के मिलने पर भी उनका अवलोकन नहीं करते, उनलोगों के लिये भी यह ग्रन्थ बनाया है। इस आशय से लिखते हैं "ननातन्त्रविहीना-नाम्" अर्थात् बुद्धिमान् वैद्य केलिये भी जिन्होने अनेक शास्त्रों को नहीं देखा है (रोग ज्ञान के लिए) यह ग्रन्थ सहायक होगा।

निदानम्पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेतिविज्ञानं रोगाणाम्पञ्चधा स्मृतम्॥ ४ ॥

व्याधिके पहचानने के पाँच उपाय हैं। उन्ही उपायों

को यहाँ कहते है " निदानमिति "। एत इति—निदान, पूर्व-रूप, रूप, उपशय, और संप्राप्ति, इन सबोंसे तथा एक एक से भी व्याधि पहचानी जाती है। नचेति-समस्त पक्षमेंकृतकर* णत्वदोष की आशङ्का न करनीचाहिए, क्योंकि एकवस्तु के सिद्ध करने में अनेक प्रमाण दिये जाते हैं। "नृणे" इति-एक बार अनुमान* से (पर्वत में) अग्नि के सिद्ध हो जाने पर फिर वही अग्नि प्रत्यक्ष और आगम (आप्तोपदेश) से भी सिद्ध होती है। इसी तरह एकबार निदान से व्याधि के जानलेने पर भी फिर पूर्वरूप आदि से भी जानने में कुछ दोष नहीं है। नवेति-बुद्धिमान् वैद्य निदान, पूर्वरूप, आदि पाँचों से व्याधि की परीक्षा करते हैं नकि एक ही से। एकेनैवेति—किसी का कहना है कि निदानादि में किसी एक से व्याधि का ज्ञान होता है परन्तु इस बात

* कृतस्य करणं कृतकरणं तस्यभावः कृतकरणत्वम्। किएहुए को फिर करना। इसीको कोई पिष्टपेषण भी कहते हैं। पीसेहुए को फिर पीसना। निदान से व्याधि जानलेने पर फिरपूर्वरूपसे जानना कृतकरणत्व हुआ। इसी तरह रूप आदि में भी समझना चाहिए।

* अनुमान का स्वरूप यह है-पर्वतो वन्हिमान् (पर्वत में आग है) धूमवत्वात् (क्योंकि धूआँ निकलताहै) यत्र २ धूमस्तत्र तत्र वन्हिः (जहाँ २ धूआँ रहता है वहाँ २ आग अवश्य रहती है) यथा महानसम्। जैसे रसोइया का घर, अर्थात् वहां धूआँ रहताहै और आग भी अवश्य रहतीहै। इसीतरह पर्वत में भी धूआँ देख पड़ता है इस लिये वहाँ भी आग अवश्य है।

को हम नहीं मानते। किञ्चेति—और किसीएक से व्याधि का ज्ञान हो भी जाय तो भी औरों से भी व्याधि का ज्ञान करना चाहिए क्योंकि सबका अलग २ प्रयोजन है। अर्थात् निदान से जो ज्ञान होता है वह पूर्वरूप से नहीं किन्तु उससे दूसराही ज्ञान होताहै इत्यादि। सबका अलग २ प्रयोजन " तथा हि " इस पदसे दिखलातेहैं। यदि निदान न माना जाता तो उसका छोड़ना कैसे कहा जाता, जैसा कि सुश्रुत में लिखाहै—निदान अर्थात् जिन कारणों से रोग हो उन कारणों का त्यागदेना ही संक्षिप्त (लघु) क्रियायोग अर्थात् चिकित्साहै भाव यह हुआ कि निदान का ग्रहण है तभी उसका त्याग भी है। यदि उसका ग्रहण ही न होता तो त्याग कैसे? किञ्चेति जैसे मिट्टी के खाने से एक पाण्डु रोग ही होता है और मक्खी के खाने से एकवमन रोग (कै) ही होता है वैसेही सब जगह एक निदान से एक ही रोग उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि ज्वर और गुल्म रोग का एक ही कारण है। जैसे चरक में लिखा है-अनेक व्याधि का एक कारण होता है, तथा एक व्याधिका एककारण भी होताहै, और एक व्याधि के बहुतकारण होतेहैं, और अनेक व्याधिके अनेक कारण होतेहैं। अतएव व्याधिके ज्ञान के लिए निदानका होना आवश्यकहै।

अपिचेति—वाग्भट्ट का मत यह है-निदान मात्र से व्याधिका का निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि निदान और व्याधिका वैसा प्रत्यक्ष कार्यकारण भाव नहीं जैसा मिट्टी और घड़ेका होता है। घड़े बनने के पहले मिट्टी रहती है इससे वह घड़ेकी कारण कही जाती है। परन्तु रोगका निकट वर्ती

निदान सदा रोगका कारण नहीं होता कभी कभी दूरवर्ती निदान निकट वर्ती निदान को दबाकर स्वयं रोग उत्पन्न कर-देता है। ऐसी अवस्था में निदान मात्र से व्याधि निश्चय करनेवाला वैद्य भ्रमसे दूरवर्ती निदान से उत्पन्न व्याधिको निकट वर्ती निदानसे उत्पन्न समझ कर चिकित्सा में गड़बड़ कर सकता है, अतः भ्रमदूर करने के लिए पूर्वरूप आदिका होना आवश्यक है। पूर्वरूप मालूम होने पर यह व्याधि किस निदान से उत्पन्न हुई है यह भली भाँति मालूम होसकता है (पहले दिन किसीने मटर खाया और तीन दिन के बाद खटाई खाई। बाद पेटमें दर्द होनेपर वह दर्द दूर पूर्ववर्ती निदान (मटर) से उत्पन्न हुआ समझा जायगा पूर्ववर्ती निदान (मटर) निकट वर्ती निदान (खटाई) को दबा दिया।

यदि पूर्वरूप न कहा जाय तो उसमें कही हुई क्रियायें चिकित्सा) व्यर्थ ही हैं। जैसा कि चरक में लिखाहै-ज्वर के पूर्वरूप में लघु भोजन या उपवास करना चाहिए, और सुश्रुत में भी लिखाहै—वातज्वर के पूर्वरूप में घी पिलाना चाहिए। इसलिए इनसब क्रियाओंके चरितार्थ होनेके लिए पूर्वरूप का होना जरुरी है। तथेति—यदि पूर्वरूप न कहाजाय तो जहाँ पूर्वरूपसे व्याधिकी असाध्यता बतलाई है वह भी संगत न होगी, जैसे कि चरकमें लिखा है-ज्वर के जितने पूर्वरूप हैं वे सब जिस प्राणीके हों तो जाननाचाहिए कि ज्वरके छलसे मृत्यु हो आई है। इसी तरह दूसरे रोगों के भी पूर्वरूप सम्पूर्णरूप से जिन प्राणियों में पायेजांय तो निश्चय मरण जानना चाहिये। तथेति-यदि पूर्वरूप न मानाजाय तो रक्तपित्त तथा प्रमेह में भी

कुछ भेद न मालूमहोगा। क्योंकि रक्तपित्त और प्रमेहमें मूत्र एकही रंग का होताहै। जैसाकि चरकमें लिखाहै—जिस मनुष्यका मूत्र हल्दीके रंग सा तथा रुधिरसे मिलाहुआहो, किन्तु प्रमेहका पूर्वरूप कभी न हुआ हो तो उसे प्रमेह रोग न कहना चाहिए वह रक्तपित्तही का प्रकोप है अर्थात् रक्तपित्त रोग समझना चाहिए। अतएव यह सिद्ध हुआ कि बिना पूर्वरूप के काम नहीं चलसकता इसलिए उसका भी होना जरुरीहै। यदि रूप न कहा जाय तो व्याधि के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान तथा व्याधिकी साध्यता और असाध्यताका भी ज्ञान नहीं होसकता। जैसाकि सुख साध्य के लक्षण में चरक में लिखा है-निदान, पूर्वरूप, रूप ये जिसे कम हों अर्थात् सम्पूर्ण भावसे प्रकट न हों और दूष्य तथा दोष तुल्यगुण न हों, जैसे कफ-दोष और मेदस-दूष्य न हों क्योंकि इन दोनों का गुण प्रायः एकही है, तथा जिस दोष से व्याधि भईहो वह दोष प्रकृति नहो, जैसे पित्तप्रकृति वाले को रक्तपित्त न हुआ हो (तो व्याधि जल्दी अच्छी हो सकती है)। तथा कष्टसाध्य के लक्षण में भी चरकरक में लिखा है—निदान, पूर्वरूप, और रूप का बल यदि कम हो तो व्याधि कष्टसाध्य होती है तथा यदि त्रिदोष के लक्षण सम्पूर्ण और बलवान हों तो सन्निपातज्वर असाध्य होता है। इसलिए रूप का भी होना जरुरी है।

यदि उपशयका ग्रहण न किया जाय तो जब कई व्याधियों का लक्षण एकमें मिला है, और व्याधिका सम्पूर्ण लक्षण प्रकट नहीं है तब उनमें से किसी एक व्याधि का भी ठीक २ ज्ञान नहीं होसकता, जैसा कि चरक में लिखा है-

जिस व्याधि का लक्षण गुप्त हो-अच्छी तरह प्रकट न हुआ हो तो उस व्याधि की परीक्षा उपशय और अनुपशय से करनी चाहिये। जैसे किसी को वात ज्वर हुआ हो पर परीक्षा करने पर वैद्य को कफ ज्वर की भी आशङ्का हो तो रोगी को कफ ज्वर की औषधि देनीचाहिए यदि उस औषधि से ज्वर न दबा तो समझना चाहिए कि इसे कफ ज्वर नहीं है वातज्वर ही है, इसी तरह उपशय और अनुपशयसे व्याधिकी परीक्षा होतीहै। जो औषधि व्याधि को शान्त करे उसे उपशय कहते हैं, और जो न शान्त करे उसे अनुपशय कहते हैं। अतएव उपशयका भी होना जरूरी है।

असत्यामिति—यदि सम्प्राप्ति न कहीजाय तो निदान पूर्वरूप आदि से व्याधिज्ञान होजानेपर भी चिकित्सोपयोगी अशांशविकल्पना, बलाबल, और काल, आदिके ज्ञान के बिना व्याधिकी चिकित्सा अच्छी तरह नहीं कीजा सकती, क्योंकि व्याधि सबल है या अबल और अमुक व्याधि में वातांश अधिक है या पित्तांश तथा अमुक व्याधि के होने का समय है या नहीं इत्यादि विषयों का ज्ञान सम्प्राप्ति ही से हो सकता है। अतएव संप्राप्ति का भी होना जरूरी है। इस लिए निदान आदि पाँचो ही की जरूरत है। पञ्चेति-ये पाँच व्याधिके ज्ञानमें कारण हैं, अर्थात् इन्हीं पाँचो से व्याधि का ज्ञान होता है, और निदान के कहने से निदान, पूर्वरूप आदि पाँचो समझना चाहिए। जैसेकि सुश्रुतमें लिखा है—हेतु, (निदान) लक्षण, * इनसे व्याधि का निर्देश (ज्ञान) होता है अतएव ये सब निदान हैं। उसी जगह गदा-

* लक्षण पदसे पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति-- इनचारों का ग्रहण होता है।

चरकाचार्यने निदानशब्दकी निरुक्ति यों लिखीहै-निर्दिश्यते व्याधिरनेनेतिनिदानम्। अर्थात् जिससे व्याधि का ज्ञानहो उसे निदान कहतेहैं। इस पदकी सिद्धि * पृषो दरादीनि यथोपदिष्टम् "इस सूत्रसे की है। जेज्जटने "निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यतेऽनेन व्याधिरिति निदानम्" यह लिखा है। अर्थात् जिससे व्याधि का निश्चय ज्ञान हो उसे निदान कहते हैं। भट्टारहरिचन्द्रेति-भट्टारहरिचन्द्र ने भी चरकमें एक जगह निदान के प्रस्तावमें निदानशब्दकी यही निरुक्ति कीहै जो कि जेज्जटने लिखी है, निशब्द का निश्चय अर्थ है। "निनिश्चय निषेधयोः" वररुचि, अर्थात् निशब्द का निश्चय और निषेध दोनो अर्थ है। लोक इति-लोकमें भी यदि कोई किसी से यह कहता है कि आज मैं तुम्हारा निदान करूँगा तो उसका यही भाव होताहै कि आज मैं निश्चय (निपटारा) करूँगा। निदानमिति-निपूर्वक दाधातु से करण अर्थ में "ल्युट्च" इस सूत्र से ल्युट् प्रत्यय हुआ "और युवोरनाकौ" इससे युको अन् आदेश होकर निदान पद सिद्ध हुआ।

तेनेति-अतएव व्याधि के निश्चय करने को निदान कहते हैं-यह सामान्य लक्षण हुआ। यह लक्षण निदान, पूर्वरूप आदि पाँचो निदानों का है। निदानेति-जैसे तृणशब्द सब तृण और विशेष तृण-दूबआदिका वाचकहै उसीतरह यह निदानशब्द भी विशेष निदान (रोगका कारण) और सामान्य हेतु-कारण का भी वाचक हैं। यत्तु इति—जोकिभट्टार हरिचन्द्र

* निपूर्वक दिशधातु से पचाद्यच्होनेकेबाद पृषोदरादि इस सूत्र से दिके इकार को आकार और शको न होता है।

ने निदानस्थान में "या गौः सुदोहा भवति तां न निदद्दीत" अर्थात् जो गाय बिना क्लेश से दुही जाय तो उसे नाँथना न चाहिए-रस्सी से पिछले पैर न बाँधने चाहिए। इस व्यासके प्रयोग का उदाहरण देकर "निदीयते निबध्यते हेत्वादि सम्बन्धो व्याधिरनेनेति" इस व्युत्पत्ति से निदानशब्द का निबन्धन (प्रतिपादन *) अर्थ लिखा है, सो वह अर्थ निदान स्थान ग्रन्थ का है नकि निदान पूर्वरूप आदि शब्द का। अर्थात् हरएक व्याधिका निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, और सम्प्राप्तियोंका प्रतिपादन ग्रन्थ में किया है, अतएव ग्रन्थ के उतने भागका नाम निदानस्थान है, जितने भाग में निदानादि सहित व्याधि का प्रतिपादन किया है, इसलिए भट्टारहरिचन्द्र ने वह व्युत्पत्ति निदानस्थान ग्रन्थ की लिखी है नकि निदान पूर्वरूप आदि शब्दों की, क्योंकि निदानादिकें, निदान से सम्बन्ध रखनेवाली—निदानादि सहित व्याधिका प्रतिपादन नहीं कर सकते, किन्तु केवल व्याधि का प्रतिपादन कर सकते हैं। जैसे आग, आग से सहित तृण को नहीं जला सकती, किन्तु केवल तृण को।

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः
निदानमाहुः पर्यायैः, प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥

एतदिति—ऊपर जो निदान आदि पाँच रोगविज्ञानके प्रकार बतलाये हैं उनमें पहले निदान का लक्षण लिखते हैं, जिससे निदान के समानजातीय पूर्वरूप आदि और

---

* निबन्धन शब्द का अर्थ प्रतिपादन है जैसाकि किरातार्जुनीयकाव्य के तृतीय सर्ग के [illegible] श्लोक में "धर्मनिबन्धिनीं" का अर्थ "धर्म प्रतिपादिकानाम्" मल्लिनाथने किया है।

विजातीय घटपटादि का ग्रहण न हो। "निदान" का लक्षण "निमित्त" पदसे "पर्यायैः" पद तक है। निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण, इन शब्दों का जो अर्थ हो उसे निदान कहते हैं। (इस प्रकार लक्षण करने की रीति भी है) जैसे बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, ये तीनों शब्द एकही अर्थ के हैं। नन्विति-क्या एकार्थक-निमित्त,आदि-शब्दों के एक साथ प्रयोग करने से जो अर्थ हो वह निदान कहलाता है या पृथक् २ प्रयोग करने से? उनमें से पहिली बात नहीं मानी जा सकती, क्योंकि निमित्त आदि सभी शब्दों का एकही अर्थ होता है और एक अर्थ वाले अनेक शब्दों का एकत्र प्रयोग नहीं होता। यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो अर्थ में गड़बड़ी होती है, क्योंकि ये सब शब्द नियत रूपसे निदान का बोध नहीं करते। निमित्त का अर्थ शकुन (सगुन) हेतु का "तत्प्रयोजको हेतुश्च" इस सूत्रके अनुसार प्रयोजक, आयतन का स्थान, प्रत्यय का सु औ जस् और लट् आदि, और उत्थान का उद्गमन (उठना) तथा उत्सर्ग (छोड़ना) भी होता है। नैवमिति—नहीं, यह बात नहीं अर्थात् पूर्वोक्त शङ्का ठीक नहीं। माना कि निमित्तादि शब्दों के शकुनादि अर्थ होते हैं, पर वे एक शब्दों के अर्थ हैं नकि सब शब्दों के। हमारा तो कहना यह है कि ये छओ शब्द पर्याय से जिस अर्थ के वाचक हों वह निदान कहलाता है। "निमित्त" का अर्थ भलेही शकुन हो, पर हेतु आदि का अर्थ तो शकुन नहीं है। निदान रूप अर्थ का बोध कराने के लिये इन छओ शब्दों का प्रयोग हो सकता है, परन्तु शकुन आदि का बोध कराने के लिए केवल एक एक का। इसी आशय से लिखा है "पर्यायैः" अर्थात् वेही शब्द परस्पर पर्याय कहे जाते हैं जो क्रम से एक

ही अर्थ के बोधक हों। इसलिए निदान आदि पर्याय शब्दों से जो अर्थ निकले उसीको निदान कहते हैं। एतच्चेति— निदान शब्द के पर्याय यहां इस आशय से लिखे गये जिससे इस शास्त्र में निमित्त आदि शब्दों का अर्थ भी निदान ही समझा जाय।

इदमिति—निदान का संक्षेपमें लक्षण तो यह है—"सेतिकर्तव्यता को रोगोत्पादको हेतुर्निदानम्" अर्थात् व्यापार से युक्त रोग को उत्पन्न करने वाला कारण निदान कहलाता है। इस निदान के लक्षण में यदि "सेतिकर्तव्यताकः" यह पद न होता—केवल "रोगोत्पादको हेतुः" इतनाही कहा जाता तो यह लक्षण सम्प्राप्ति पर भी घट जाता; क्योंकि कोई २ सम्प्राप्तिका लक्षण "दोषेतिकर्तव्यता" ऐसा करते हैं। "दोषेतिकर्तव्यता" का अर्थ हुआ दोषों का व्यापार। वह रोगोत्पादक है ही। "सेति कर्तव्यताकः" इस पद के प्रयोग करने पर निदान का यह लक्षण सम्प्राप्ति पर नहीं घटता, क्योंकि दोष व्यापाररूप सम्प्राप्ति में दूसरा व्यापार नहीं माना जा सकता। व्यापार द्रव्य में रहता है नकि व्यापार में, इसीलिए कारिकावली में लिखा है "गुणादि निर्गुणक्रियः"। जो कि सम्प्राप्ति का लक्षण "व्याधि जन्म सम्प्राप्तिः" ऐसा मानते हैं अर्थात्- व्याधि की उत्पत्ति कोसम्प्राप्ति कहते हैं, उनके लिए "व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्" इतना ही लक्षण काफी है। अर्थात् व्याधि की उत्पत्ति (पैदाइश) में जो हेतु हो उसे निदान कहते हैं। ऊपर कहे हुए "सेतिकर्तव्यता को रोगोत्पादको हेतुर्निदानम्' और "व्याध्युत्पत्ति हेतुर्निदानम्" इन दोनों लक्षणों में उत्पादक और उत्पत्ति शब्द इसलिए दिया जिस से यह लक्षण व्याधि के ज्ञान का कारण—पूर्वरूप आदि पर न घट जाय, क्य

कि हेतु पद से पूर्वरूप आदि का भी ग्रहण होता है, अतएव "रोग हेतुर्निदानम्" या "व्याधिहेतुर्निदानम्" ऐसा लक्षण करने से पूर्वरूप आदि सभी समझे जायँगे। सचेति—वे रोगोत्पादक हेतु अनेक हैं। पहले उनके चार भेद हैं। जैसा कि उपकल्पनीय अध्याय में हरिचन्द्र ने लिखा है—सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी, प्राधानिक भेद से हेतु चार प्रकार का है। सन्निकृष्ट—साक्षात् रोगोत्पादक, जैसे रात, दिन, ऋतु, और भोजन, इनके अंश सद्यः दोषों के कुपित होने में कारण होते हैं। वे चयादिककी अपेक्षा नहीं करते। इसका भाव यह है कि रात, दिन, ऋतु और भोजन के एक एक भाग दोषों के कुपित होने में कारण हैं। जैसे—रातका पहला भाग कफ का, मध्यभाग पित्तका और अन्तिम भाग वायुका प्रकोपक है। इसी तरह वसन्त ऋतु कफका, शरद पित्तका और वर्षा वायु का। इसी तरह भोजन का आरम्भ काल कफका, मध्यकाल (पचने का समय) पित्तका और अन्तकाल (पच जानेका समय) वायुका। ये सब सन्निकृष्ट हेतु स्वयं—बिना किसी की सहायता के दोषों को कुपित करदेते हैं। विप्रकृष्ट हेतुकी तरह सञ्चय आदिकी अपेक्षा नहीं रखते। जैसे कफ विप्रकृष्ट हेतु है, क्योंकि वह सञ्चय की अपेक्षा रखता है। यदि वह हेमन्त में सञ्चित न हो तो वसन्त में कुपित होकर रोग उत्पन्न नहीं कर सकता। विप्रकृष्ट—जैसे हेमन्त में सञ्चित हुआ कफ वसन्त में कुपित होकर रोग उत्पन्न करता है। किंचेति—या ज्वरका सन्निकृष्ट हेतु रूक्ष आदि पदार्थों का सेवन, क्योंकि वह स्वयंही ज्वर को उत्पन्न करदेता है, और विप्रकृष्ट हेतु रुद्रकोप, क्योंकि, साक्षात् रुद्रकोप से जीवों को ज्वर नहीं होता, किन्तु परम्परा से रुद्रकोप कारण है।

व्यभिचारी हेतु उसे कहते हैं जो स्वयं दुर्बल होने के कारण व्याधिको उत्पन्न न करसके। जैसा चरक में लिखा है-(अथवा) जब दुर्बल हेतु अपने कार्य करने में उतारू होते हैं तब रोग उत्पन्न नहीं होते। जैसे अजीर्ण रोग का हेतु है अधिक भोजन, परन्तु यदि कम खाया जाय तो अजीर्ण न होगा, अतएव अजीर्ण रोग का हेतु अत्यन्त दुर्बल होने के कारण उस रोग को उत्पन्न नहीं करता। प्राधानिक हेतु (कार्य में जिसकी प्रधानता हो) जैसे-विष आदि। अर्थात् विष विषरोग में प्रधानहेतु है। किसी ने असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम इन भेदों से तीन तरह के हेतु माने हैं। तत्रेति—उनमें रूपरसादि के अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। आँख, कान, नाक, जीभ आदिको इन्द्रिय कहते हैं। अर्थ विषय को कहते हैं। सात्म्य का अर्थ सुखदायक और असात्म्य का अर्थ दुःखदायक है। भाव यह हुआ कि जिन विषयों से संयोग होने पर इन्द्रियों को दुःख (व्याधि) हो वह संयोग हेतु हुआ, परन्तु वह संयोग अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग से होगा तो व्याधिका कारण होगा अन्यथा नहीं। जैसे नेत्रेन्द्रिय का विषय है रूप, यदि नेत्र और रूपसे अयोग हो-संयोग न हो तो नेत्र में रोग हो जायगा, तथा कभी अतियोग हो जाय। जैसे आंखों से सदा देखाही करे कभी आँख विश्राम न ले या बराबर सूर्य के तरफ देखा करे तो रूपके अतियोग होनेसे नेत्र में रोग अवश्य हो जायँगे। मिथ्यायोग, जैसे अदृश्य परमाणुओं को आंख फार २ कर देखने की चेष्टा करना। इससे भी रोग हो सकता है। इसी तरह दूसरी इन्द्रियों के विषयों का भी अयोगादि समझना चाहिए। प्रज्ञापराध

मिथ्या ज्ञान (ना समझी), जैसे कोई संखिये की डली को तीखुर की डली समझ कर खाले, तो उसे अवश्य रोग हो जायगा अतएव प्रज्ञापराध उस रोगका हेतु हुआ। परिणाम अर्थात् अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग के सहित ऋतुओं के धर्म। जैसे—गरमी में गरमी कम पड़ना अयोग हुआ। उसी गरमी में गरमी अधिक पड़ना अतियोग हुआ। जाड़े के दिनोंमें गरमी पड़ना या गरमीमें जाड़ा पड़ना मिथ्यायोग हुआ। इसी तरह दूसरे ऋतुओं के भी धर्मका अयोगादि समझना चाहिए, अतः ऋतुओं के इन अयोगादिके कारण—धर्म बदलने से व्याधि अवश्य होगी, इसलिए परिणाम भी हेतु हुआ।

अधर्म (पाप) से भी रोग होते हैं इसलिए अधर्म भी हेतु हुआ, पर भट्टार हरिचन्द्र ने परिणामही में उसकी गणना की है; अलग नहीं माना है, क्योंकि—उनका कहना है कि अधर्म जब दुःखरूप में परिणत होता है—बदल जाता है तभी व्याधियां होती हैं, किन्तु चक्रदत्त ने पापकी गणना प्रज्ञापराध में की है. क्योंकि जब बुद्धिसे अपराध होता है—बुद्धि ठिकाने नहीं रहती तभी ब्रह्महत्या आदि पापकर्म होते हैं, इसलिए इन कर्मों से उत्पन्न हुए अधर्म (पाप) का कारण प्रज्ञापराधही है। अधर्म में सबलता या अबलता की अपेक्षा नहीं, छोटे से भी छोटा पाप रोग उत्पन्न कर सकता है। फिर वह हेतु तीन प्रकार का है—दोषका हेतु, व्याधिका हेतु और दोष व्याधि दोनों का हेतु। अर्थात् कोई हेतु दोष को कुपित करता है, कोई व्याधिको उत्पन्न करता है और कोई दोष व्याधि दोनों को कुपित और उत्पन्न करता है। दोषहेतु—जैसे प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न मधुर आदि रस, दोषों के सञ्चय, दोषों के प्रकोप और दोषों की शान्ति के कारण होते हैं।

जैसे—हेमन्त में अधिक मधुर रस के सेवन से कफ संचित होता है और वसन्त में सेवन से कुपित होता है और उसी वसन्त ऋतु में तिक्त या कषाय रस के सेवन से शान्त होताहै। व्याधिहेतु—जैसे मृत्तिकाभक्षण पाण्डुरोग का हेतु है। यद्यपि मृत्तिका भी दोषों को कुपित ही करती है, जैसे चरक में लिखा है-कषैली मिट्टी वायुको, ऊषर भूमिकी मिट्टी पित्तको और मीठी कफको कुपित करती है। तथापि मृत्तिका भक्षण से कुपित हुए दोषों से पाण्डुरोगही होता है। दूसरा रोग नहीं होता। मृत्तिका व्याधिहेतु है दोष हेतु नहीं। दोष व्याधि जैसे-वातरक्त रोग में " हस्त्यश्वोष्ट्र गच्छतश्चाश्नतश्च " इत्यादि लिखा है। अर्थात् हाथी, घोड़े और ऊंट पर अधिक चढ़ने से विदाही अन्न के सेवन से वातरक्त होता है। यद्यपि इन हेतुओंसे पहले दोष प्रकुपित होते हैं तौभी जैसे ये दोष के कारण हैं वैसे व्याधि के भी कारण हैं। अर्थात् ये हेतु केवल दोषको कुपित नहीं करते, किन्तु साथही व्याधि को भी उत्पन्न करते हैं। इस लिए इस रोग में केवल व्याधि को नष्ट करने वाली औषध न देनी चाहिए, किन्तु व्याधि और दोष दोनों को नष्ट करने वाली। नचेति—कारण के नाश हो जाने पर कार्य स्वयं नष्ट हो जाता है, तो व्याधिका कारण—दोष के नष्ट हो जाने पर व्याधि स्वयं नष्ट हो जायगी, इसलिए यह जो कहा है कि दोष व्याधि दोनों को नष्ट करने वाली औषध देनी चाहिये, ठीक नहीं है, यह शङ्का यहां न करनी चाहिए, क्योंकि औषधों में नियत शक्ति रहती है। कोई औषध दोषको शान्त करती है, कोई व्याधि को और कोई दोनों को। यदि ऐसा न होता तो कफसे उत्पन्न तिमिर-रोग (रतौंधी) में कफ दूर करने के

लिए वमन (कै) क्यों न कराया जाता ? क्योंकि वमन द्वारा कफके दूर होने से कफसे उत्पन्न तिमिर रोग आपही शान्त होगा, परन्तु ऐसा नहीं होता । कफके दूर होने पर भी तिमिर रोग ज्यों का त्यों बना रहता है, इस लिए वमन दोष मात्र को शान्त करता है किन्तु रतौंधी को नहीं । अतएव दोष और व्याधि दोनों को नष्ट करने वाली औषध देनी चाहिए । इसी आशय से चरक में भी लिखा है-तिमिर रोग, गुल्म रोग और पाण्डु रोग में वमन न कराना चाहिए ।

फिर वह हेतु उत्पादक और व्यञ्जक भेदसे दो प्रकार का है । उत्पादक हेतु—जैसे हेमन्त में उत्पन्न हुआ मधुर रस कफ के प्रकोप का हेतु है । व्यञ्जक—जैसे उसी कफका व्यञ्जक (प्रकट करने वाला) वसन्त ऋतु में सूर्यका सन्ताप है । वसन्त में कफ सूर्य सन्ताप से पिघल कर प्रकट होता है, इसलिए सूर्यसन्ताप कफका व्यञ्जक हेतु है । यह मत भट्टार हरिचन्द्र का है । यञ्जक शब्दका अर्थ प्रेरक है । फिर वह हेतु बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है । बाह्य हेतु-आहार, आचार और काल आदि है; क्योंकि इन्हीं के अयोग अतियोग और मिथ्या योग से व्याधि उत्पन्न होती हैं । इसी अभिप्राय से त्रिजटाचार्य ने लिखा है । व्यायाम से, उपवास से, पूपतन से (गिर पड़ना) अङ्ग-भङ्ग होने से, धातुक्षय से, जागने से, मल-मूत्र आदिके वेगोंके रोकने से, अत्यन्त शोकसे, ठंढक से, अत्यन्त डर से, रूखे और उत्तेजक (जोश दिलाने वाले मद्य आदि) पदार्थों के सेवन से, तथा कषाय, तिक्त और कटुरस के सेवन से, वर्षाकाल में, अन्नके पचजाने पर और अपराह्न समय (तीसरे पहर) वायु कुपित होता है ।

कटुरस, अम्लरस, उष्ण, (वीर्य और स्पर्श दोनों से उष्ण, वीर्य से उष्ण जैसे पूड़ी आदि और स्पर्श उष्ण जैसे गरमा गरम चीजें) विदाही (जैसे राई आदि) तीक्ष्ण (मिर्च आदि) लवण, तिल, अलसी, (तीसी) दही, मद्य, शुक्त (सिरका) काँजी, इन पदार्थों के सेवन से तथा क्रोध, उपवास, घाम, स्त्री संग, इनसे और भोजन के बाद, भोजन के पचने के समय, शरद् ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु में, मध्याह्न समय (दोपहर) और आधीरात में पित्त प्रकुपित होता है।

गुरु (गुरुपाकी) जैसे लड्डू आदि, मधुररस अत्यन्त स्निग्ध (जिसमें घी या तेल अधिक पड़ा हो) दुग्ध, ईखके रससे बने हुए भोजन, जैसे हलुआ आदि। इक्षुभक्ष्य पदसे यहां इक्षु विकारमात्रका ग्रहण है, जैसे गुड़, चीनी आदि। द्रव (पतला या तरल) दही, दिन में सोना, पूआ आदि, घी, अधिक भोजन, या घी से परिपूर्ण पदार्थ, इन सब पदार्थों से तथा हेमन्त ऋतु में, प्रातःकाल, भोजन के उपरान्त तुरन्तही, और वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है। (यद्यपि पित्त को कुपित करने वाले पदार्थों में उष्ण पद से उष्णवीर्य—तिल, अलसी, दही, मद्य और अम्लपद से शुक्त और कांजी आदि का ग्रहण हो जायगा, तथापि ये पदार्थ विशेष रूप से पित्त के प्रकोपक हैं और जिन पदार्थों से पित्त कुपित होता है उनमें तिल आदि प्रधान हैं इसीलिए इनका पृथक् ग्रहण किया गया। इसलिए यहां पुनरुक्ति दोष की आशङ्का न करनी चाहिए। कफ के प्रकोपक पदार्थों में भी जहां ऐसी पुनरुक्ति जान पड़े वहां भी इसी तरह समझना चाहिए)। आभ्यन्तर हेतु (शरीर के भीतर का) दोष (वात, पित्त, कफ) और दूष्य (रस, रक्त मांस आदि) हैं। उन में कुपित

दोष भी प्राकृत आदि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। प्राकृत जैसे—वसन्त में कफ, शरद् में पित्त और वर्षा में वायु कुपित होता है। प्राकृत पद का अर्थ स्वाभाविक है। अर्थात् उन ऋतुओं में उक्त दोषों का कुपित होना स्वाभाविक है। वैकृत-जैसे वसन्त में पित्त या वायु का कुपित होना, वर्षा में कफ या पित्त का और शरद् में कफ या वायु का। यहां के वैकृत शब्द का अर्थ विपरीत है, क्योंकि जिस ऋतु में जिस दोष को प्रकुपित होना चाहिए वह न हुआ। इनके ज्ञान से व्याधियों की सुखसाध्यता और कृच्छ्रसाध्यता जा सकती है। प्राकृत दोष से उत्पन्न व्याधि सुखसाध्य और वैकृत दोष से उत्पन्न व्याधि कृच्छ्रसाध्य होती है। जैसा चरक में लिखा है—वसन्त में कफप्रकोप से और शरद् में पित्तप्रकोप से उत्पन्न ज्वर प्राकृत है अतएव वह सुखसाध्य होता है। भाव यह हुआ कि-वसन्त में कफ का कुपित होना स्वाभाविक है, अतएव उस ऋतु में उस दोष से उत्पन्न ज्वर जल्दी अच्छा हो सकता है। इसीतरह शरद् में पित्त का भी कुपित होना स्वाभाविक है, अतएव उस ऋतु में उस दोष से भी उत्पन्न ज्वर जल्दी अच्छा हो सकता है। (जैसे-स्वाभाविक क्रोधी मनुष्य शीघ्र प्रसन्न किया जा सकता है, परन्तु अस्वाभाविक नहीं)। फिर वे दोष अनुबन्ध्य और अनुबन्ध भेद से दो प्रकार के हैं। यहां अनुबन्ध्यशब्द का अर्थ प्रधान है और अनुबन्ध शब्द का अप्रधान। जैसा चरक में लिखा है-जो दोष स्वतन्त्र हो अर्थात् किसी दूसरे दोष के अधीन न हो, तथा जिस दोष के लक्षण प्रकट हों और जिस दोष का समुत्थान अर्थात् कोप काल और उपशम अर्थात् शमनकाल शास्त्र के अनुसार हो, तो उसे अनुबन्ध्य कहते हैं। और

ये लक्षण जिस में न पाये जाँय तो उसे अनुबन्ध कहते हैं। यहां दोषों के इन भेदों को इसलिए दिखलाया कि वैद्य संसर्गज अर्थात् दो दोष के संसर्ग से उत्पन्न व्याधि में प्रधान दोष के प्रकोप से उत्पन्न व्याधि की चिकित्सा विशेषरूप से करें, परन्तु चिकित्सा ऐसी हो कि अनुबन्ध दोष कोई दूसरी व्याधि न बढ़ा सके। जैसा चरक में लिखा है-प्रधान दोष या व्याधि के शान्त हो जाने पर उसके उपद्रव स्वयं शान्त हो जाते हैं। यहां उपद्रव पद से अनुबन्ध (अप्रधान) समझना चाहिए। अब प्राणियों के प्रकृतिभूत और विकृतिभूत दोषों को दिखलाते हुए प्रकृतिभूत दोष से उत्पन्न व्याधि की कष्ट साध्यता और विकृतिभूत दोष से उत्पन्न व्याधि की सुखसाध्यता का वर्णन करते हैं। जैसे किसी मनुष्य की वात की प्रकृति हो और उसे वात रोग हो तो वह रोग कष्टसाध्य होता है-कष्ट से अच्छा हो सकता है। परन्तु यदि वात रोग कफ की प्रकृति वाले मनुष्य को हो, तो सुख साध्य होता है क्योंकि कफ प्रकृति वाले के लिए वायु विकृति है। जैसा चरक ने सुखसाध्य व्याधि का वर्णन करते लिखा है-दोष और दूष्य का गुण एक न हो, तथा जिस दोष से व्याधि उत्पन्न हो वह दोष मनुष्य की प्रकृति न हो तो वह व्याधि जल्दी अच्छी होती है। आशयापकर्ष और गति भेद से दोष फिर दो प्रकार के हैं। आशयापकर्ष जैसे—अपने प्रमाण से और अपने स्थान में स्थित दोष को जब वायु खींचकर दूसरे स्थान में ले जाता है तो अपने प्रमाण से स्थित होने पर भी वह दोष व्याधि उत्पन्न ही कर देता है। जैसा चरक में लिखा है-कफ के नष्ट हो जाने पर प्रकृतिस्थ (अपने प्रमाण से स्थित) पित्त को उसके स्थान से वायु लेकर

शरीर में जहाँ जहाँ फैलाता है वहाँ वहाँ ठहरता नहीं और भेदन (तोड़नेऐसी पीड़ा) जलन, शरीर में दुर्बलता और थकाहट मालूम होती है। इसके दिखलाने का प्रयोजन यह है कि उस समय कुपित हुए वायु को ही उसके स्थान में लाना चाहिए, न कि पित्त को घटाना चाहिए, किन्तु कितने वैद्य इसतरह वायु से की हुई पित्त की खिचाहट को नहीं समझते और दाह देखकर पित्त वृद्धि को समझते हुए पित्त कम करने की चेष्टा करके पित्तक्षयरूप दूसरी व्याधि उत्पन्न कर देते हैं और इस तरह रोगी के प्राण के ग्राहक बन जाते हैं। यह मत भट्टार हरिचन्द्र का है। परन्तु दूसरे आचार्य ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि पाचक, भ्राजक रञ्जक, आलोचक और साधक भेद से पित्त सारे शरीर में व्याप्त रहता है। जब स्वस्थानस्थित पित्त वायु से खींचा हुआ शरीर के दूसरे भाग में पहुँचाया जाता है तब उस स्थान का पित्त वायुसे लाए हुए पित्त से मिलकर अधिक हो जाता है, इसलिए यह विकार पित्त वृद्धि का ही है, किन्तु दूसरा नहीं। नहीं तो दाह क्यों होता? क्योंकि अपने प्रमाण में स्थित दोष व्याधि उत्पन्न नहीं करते। भट्टारेति-पूर्ववर्णित भट्टार हरिचन्द्र का अभिप्राय यह है जैसे दोष की वृद्धि और दोष का क्षय रोगका कारण है, वैसेही दोष का एक स्थान से दूसरे स्थान में चला जाना भी रोग का कारण है। इसलिए केवल वृद्धि अथवा क्षयपर ही वैद्य की दृष्टि न रखनी चाहिए किन्तु स्थानान्तर-गमन पर भी, नहीं तो पूर्वनिर्दिष्ट रोग में केवल पित्त की वृद्धि समझकर उसे दूर करने के लिए चिकित्सक विरेचन देगा अथवा पित्त कम करने का कोई दूसरा उपाय करेगा। किन्तु उस अवस्था में सिवा दूसरे स्थान में गये

हुए दोष को अपने स्थान में लौटाने के कोई दूसरा उपाय करना उचित नहीं है। और जो चरक ने क्षय (अपने प्रमाण से कम हो जाना) स्थान—स्थिति=ज्यों का त्यों बना रहना और वृद्धि ये तीन ही गतियाँ बतलाई हैं वह दिग्दर्शन मात्र कराया है। उस से निराकरण नहीं हो सकता। प्रायः उपरोक्त तीन ही अवस्थाएँ अधिक देखी जाती हैं, इसीलिए उन्होंने केवल उनकाही वर्णन किया है। दोषों का गति भेद जैसे—क्षय वृद्धि आदि। जैसा चरक में लिखा है—क्षय, स्थान और वृद्धि ये तीन गतियाँ दोषों की हैं। तीन गतियाँ और हैं-ऊर्ध्वगति (ऊपर जाना) अधोगति (नीचे जाना) तिर्यक्‌गति (तिरछे जाना) ये तीन गतियाँ कोष्ठ, शाखा (रक्त आदि धातु) मर्मास्थि सन्धियों में होती हैं। यद्यपि मर्म अस्थि और सन्धि को लेकर पाँच हो जाते हैं, अतएव पाँच गतियाँ होंगी, तीन नहीं, परन्तु तोभी तीन ही गतियाँ होती हैं, क्योंकि मर्म आदि तीन स्थानों में दोषों के जाने से व्याधि कृच्छ्र साध्य होती है, इसलिए तीनों में एक ही कार्य के होने से मर्म आदि तीनों स्थानों की गति एक ही मानी है, अतएव पाँच नहीं, किन्तु तीन ही गतियाँ हैं। ऊपर जो स्थान शब्द है उसका अर्थ दोषों का सम रहना है, अर्थात् अपने प्रमाण में रहना। क्षय आदि के लक्षण ये हैं—जब दोष बढ़ते हैं तब अपने २ लक्षण प्रकट करते हैं, जब घटते हैं तब उनके लक्षण दूर हो जाते हैं और जब सम रहते हैं तब शरीर की स्थिति के लिए अपना अपना कार्य करते हैं। स्वलिङ्गम्, अर्थात् जैसे कुपित वायु के रूक्ष आदि धर्म और शिथिलता शूल आदि कार्य हैं। जैसा चरक के पाठ से मिलता जुलता सुश्रुत

सेन का वचन है—आध्मान (पेट फूलना) स्तम्भ * शरीर का जकड़ जाना) तोद (रुलाहट) स्फुटन (त्वचाका फटना) विमथन (ऐसी पीड़ा हो मानो कोई मथता हो) क्षोभ, कम्प (काँपना) प्रतोद (ऐसी पीड़ा हो मानो सूई चुभती हो) कण्ठ ध्वंस (गला बैठ जाना) अवसाद (शरीर ढीला मालूम होना) श्रमक-श्रमइव श्रमकः (थकाहट) विलपन=प्रलाप (अडबंड बकना) स्रंस (सन्धियों की शिथिलता) शूल प्रभेद (अनेक प्रकार का शूल होना) पारुष्य (त्वचाका कड़ा हो जाना) कर्णनाद (कान में सांय २ शब्द होना) विषयपरिणतिभ्रंश (पदार्थों का यथार्थ ज्ञान न होना) दृष्टि प्रमोह (कम सूझना) विस्पन्द (शरीर में किसी एक जगह फड़कना) उद्वर्त्तन (सन्धि की हड्डियों का आपस में रगड़ा खाना) अलपन (किसी काम में उत्साह न होना) अशयन (नींद न लगना) ताडन (ऐसी पीड़ा हो मानो कोई मारता हो) नाम (आगे की ओर नम जाना) उन्मान (पीछे की ओर नमजाना) विषाद[1] । भ्रम (चक्कर) परिपतन (शरीर गिरता हुआ सा मालूम होना) जृम्भण (जँभाई) रोमहर्ष (रोंगटे खड़े होना) विक्षेप (हाथ पाँव पटकना) आक्षेप (हचकना या झोका खाना जैसे हाथी ऊँट पर चढ़ने से होता है। शोष (शरीरका सूखना) ग्रहण (पकड़न) शुषि-

* स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः । साहित्य दर्पण । तृ० प० डर, खुशी और रोग से प्राणी अपना कार्य नहीं करपाता, इसी को स्तम्भ कहते हैं ।

१ उपायाभावजन्मातु विषादः सत्त्वसंक्षयः । साहित्य दर्पण तृ० प० । किसी कार्य के करने में कोई उपाय न मिलने से उत्साह का भङ्ग हो जाता है, उसीको विषाद कहते हैं ।

रता (शरीर का किसी जगह पचक जाना या दब जाना) छेदन (ऐसी पीड़ा हो मानो कोई काटता हो) वेष्टन (ऐंठन) श्याव (हलका काला रंग) अरुण (लाल) शरीर का या मल-मूत्र का । अधिक प्यास लगना । स्वाप (छूने पर स्पर्श न मालूम होना) विश्लेष (जोड़ों की ढिलाहट) सङ्ग (हाथ पैर से कोई काम न होना) मुँह का स्वाद कषैला होना । ये सब कार्य कुपित हुए वायु के हैं ।

विस्फोट (शरीर में दाने पड़ जाना) अम्लक धूमक (खट्टी) धुँआइन (धुँऐली डकार) प्रलपन (अंड बंड बकना) स्वेद स्रुति (पसीना निकलना) मूर्च्छन (बेहोशी) दौर्गन्ध्य (शरीर में बदबू आना) दरण (त्वचाओं का फटना) मद । विसरण (सन्धि बन्धन का ढीला हो जाना) पाक (शरीर का फुन्सियों से पक जाना) अरति (कहीं मन न लगना) तृट् (प्यास) भ्रम । ऊष्मा (गरमी) (अतृप्ति) भोजन करने पर भी खाने की इच्छा होना ।) तमः प्रवेश (आँख के सामने अँधेरा मालूम होना) दहन (जलन) मुख का स्वाद कड़ुवा, खट्टा और तीता होना । शरीर का वर्ण पाण्डु (हलका पीला रंग) को छोड़कर प्रायः सभी हो । क्थितता (पेट में ऐसी पीड़ा हो मानो कोई चीज चुरती हो) ये सब कार्य कुपित हुए पित्त के हैं ।

तृप्ति (भोजन की इच्छा न होना) तन्द्रा (ओघाई) गुरुता (शरीर का भारी मालूम होना) स्तैमित्य (ऐसी ठंढक मालूम होना मानो किसी ने गीला कपड़ा ओढ़ाया हो) कठिनता (शरीर कड़ा का हो जाना) मल का अधिक होना । (मल पद से आँख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों का मल समझना चाहिए । स्नेह (शरीर में चिकनाहट पैदा होना)

उपलेप (ऐसा मालूम होना कि मुँह कफ से भरा हुआ है) शैत्य (जाड़ा लगना) कण्डू (खुजली) प्रसेक (मुहँ से लार टपकना) चिरकर्तृत्व (काम करनेमें देर होना) शोथ (सूजन) अधिक नींद लगना, मुहँका स्वाद निमकसा और मीठा मालूम होना, शरीर का रंग सफेद हो जाना, अलसता (शक्ति के रहने पर भी किसी काम के करनेमें उत्साह न होना) ये सब कार्य कुपित हुए कफ के हैं।

दो दोषों के मिले हुए लक्षणको संसर्ग और तीन दोषों के मिले हुए लक्षण को सन्निपात कहते हैं। दोषों के लक्षणों के जानने से चिकित्सा में भेद मालूम होता है। जैसा सुश्रुत में लिखा है-जो दोष अपनी मात्रा से क्षीण अर्थात् कम होगये हों तो उन्हें बढ़ाना चाहिए, सम-बराबर हों तो पालन करना चाहिए अर्थात् ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे न बढ़ें और न घटें और जो बढ़े हों, तो उन्हें कम करना चाहिए। दोषों को क्षय आदि गति दिखलाकर अब ऊर्ध्व आदि गति दिखलाते हैं।• जैसे—रक्तपित्त की गति ऊपर और नीचे दोनों है। इसके दिखलाने का प्रयोजन यह है कि यदि रक्त-पित्त की गति ऊपर हो तो विरेचन और नीचे हो तो वमन कराना चाहिए। जैसा चरक में लिखा है-रक्तपित्त में विपरीत मार्ग से दोषों को निकालना चाहिए। अर्थात् यदि रक्तपित्त ऊपर के रास्ते-नासिका आदि से निकले तो विरेचन द्वारा दोष निकालना चाहिए और यदि नीचे के रास्ते—गुदा आदि से निकले तो वमन द्वारा निकालना चाहिए। जो वैद्य दोषों की गति नहीं जानते वे " विरेकः पित्तहराणाम् " (विरेचन द्वारा पित्त का निकालना सब से अच्छा है) इस वचन से जिस रक्तपित्त की नीची गति है

उसमें भी विरेचन कराते हुए बड़ा ही अनर्थ करते हैं । जब ज्वर में दोषों की गति तिरछी हो, तो उपर्युक्त ही चिकित्सा करनी चाहिए । वृद्धा इति-बढ़े हुए दोष कभी कोष्ठ में कभी शाखाओं में, कभी मर्म स्थान में और कभी हड्डी तथा सन्धियों में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं । मर्मेति—पहले कह आए हैं कि कोष्ठ शाखा और मर्मास्थि सन्धियों में दोषों की तीन गतियाँ होती हैं । यद्यपि मर्म, अस्थि और सन्धि को लेकर पाँच गतियाँ होनी चाहिए, तीन नहीं, तो भी तीनही गतियाँ होती हैं, क्योंकि मर्म आदि तीनों स्थानों में दोषों के जाने से व्याधि कृच्छ्रसाध्य होती है, इसलिए तीनों स्थानों में एकही कार्य के होने से मर्म आदि तीनों स्थानों की गति एकही मानी है, अतएव पाँच नहीं, किन्तु तीनही गतियाँ होती हैं । यहां कोष्ठ पद से आशय आदि तथा शाखा पद से रक्त आदि धातु और त्वचा का ग्रहण है । ये संज्ञाएँ चरक की की हुई हैं । यहां कोष्ठ आदि इसलिए कहा जिससे चिकित्सा में भेद मालूम हो । जैसा चरक में लिखा है—यदि वायु आमाशय में चली जाय तो रूक्ष-स्वेदन करना चाहिए, तथा सन्ततज्वर रस और रक्त में एवं अन्येद्युज्वर मांस में रहता है- और स्नायु तथा मर्मस्थान में उत्पन्न हुए व्रण में अग्नि कर्म (दाह आदि) न करना चाहिए । एतच्चेति—और यह भी जानना चाहिए कि दोष आमरस से मिले हुए हैं या नहीं । जैसा चरक में लिखा है—मन्दाग्नि होजाने पर अन्न रस यथार्थ न पक कर जब आमाशय में चला आता है तो उस दुष्ट रस को आम कहते हैं । उस आम से जब दोष और दूष्य मिल जाते हैं तो उन दूषित हुए दोषों और दूष्यों को

और उनसे उत्पन्न हुए रोगों को साम कहते हैं। जब (आमरस से) नाड़ियों का मार्ग रुक जाय, शरीर का बल कम हो जाय, शरीर भारी जान पड़े वायु न निकले, आलस्य मालूम हो, अन्न न पचे, निष्ठेव (मुँह और नाक से पानी बहे) मल गठीला होकर गिरे, भोजन में इच्छा न हो, क्लम-ग्लानि हो तो समझना चाहिए कि दोष साम-आम युक्त हैं। यदि वायु साम रहती है तो मल और मूत्र यथार्थ नहीं होते या देह में ऐसी पीड़ा मालूम होती है मानो किसी ने बाँधा हो, अग्नि मन्द हो जाता है। अँतड़ियों में गुड़ गुड़ शब्द होता है, साधारण पीड़ा होती है, शरीर में सूजन आ जाती है, ऐसी पीड़ा होती है मानो किसी ने सूई चुभोयी हो, एकही समय वायु सारे शरीर में चलकर अङ्गों को बहुत पीडित करती है, स्नेह क्रिया (तेल आदि के लगाने से और ठंढी चीजों से) सूर्योदय में, वर्षा काल में और रात में वायु बढ़ती है। यदि वायु निराम रहती है तो शरीर निर्मल और रूखा रहता है, मल मूत्र आदि यथार्थ होते हैं, पीड़ा कम होती है और वायु के गुण से विपरीत गुण वाले पदार्थों से और विशेष कर स्निग्ध (चिकनी) चीजों से वायु शान्त होती है। आम युक्त पित्त में बदबू आती है, रंग उसका धुँधेला और हरा होता है, स्वाद उसका खट्टा होता है, स्वयं वह भारी अतएव स्थिर होता है, खट्टी डकार तथा कण्ठ और हृदय में जलन पैदा करता है। यदि पित्त का रंग कुछ२ लाल और पीला हो, स्पर्श उष्ण हो स्वाद में कडुआ हो, अस्थिर अर्थात् गमन शील हो, बदबू न आती हो तो पित्त आम रहित समझना चाहिए। ऐसाही पित्त अन्नमें रुचि और अग्नि दीप्त करताहै। आम युक्त कफ मैला होताहै, सूत के तरह तारबार होता है, स्त्यान (गाढ़ा) होता है।

गले में आकर रुक जाता है, बदबू आती है। ऐसे कफ से न भूख प्यास लगती और न डकार ही आती है। आम रहित कफ फेन युक्त और गठीला होता है, रंग उसका पीला होता है, नीरस अर्थात् पतला नहीं होता और उसमें कोई गन्ध नहीं रहता, छेद युक्त होता है, मुख को शुद्ध करता है। यहां आम और निराम के दिखलाने का प्रयोजन यह है कि दोषों को जब आम सहित जाने तो उसमें पाचन औषध देनी चाहिये जो कि आम को पकावे और आम रहित हो तो शमन औषध देनी चाहिए जो दोषों को शान्त करे। एतेचेति-ये दोष आपस में मिल कर कम बेशी होने से ६२ प्रकार के होते हैं। ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से उनका उदाहरण मैंने यहां नहीं लिखा। यदि जानने की उत्कण्ठा हो तो सुश्रुत में उत्तर तन्त्र के ६६ वें (दोषभेदविकल्प) अध्याय में देख लेना चाहिए। पहले जो निदान और दोषों का भेद दिखलाया है, उन्हें अब इकट्ठा करके लिखते हैं—व्यभिचारी, दूर (विप्रकृष्ट) निकट (सन्निकृष्ट) और प्राधानिक, चार भेद ये, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, परिणति (परिणाम) और प्रज्ञापराध तीन भेद ये। रोगकारण, दोषकारण, रोगदोपोभयकारण, तीन भेद ये, व्यञ्जक, और उत्पादक दो भेद ये तथा बाह्य, और आभ्यन्तर, इतने भेद निदान के हैं। कुल चौदह भेद हुए। प्राकृत, वैकृत, अनुबन्ध्य, अनुबन्ध, प्रकृति अप्रकृति (विकृति) आशयापकर्षण और गति, इतने भेद दोष के हैं। कुल ८ भेद हुए।

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ॥
लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद् यथायथम् ॥ ६ ॥

निदान के बाद पूर्वरूप आदि का ज्ञान होता है, अतएव अब " प्राग्रूपं येन ", इत्यादि श्लोक द्वारा पूर्वरूप का लक्षण लिखते हैं । पूर्वरुप दो प्रकार का होता है—सामान्य और विशिष्ट । उनमें सामान्य उसे कहते हैं, जिससे दोष (वात पित्त, कफ) और दूष्य (रस, रक्त, मांस आदि) की सम्मूर्च्छनावस्था में (मिलने पर) होने वाली व्याधि मात्र का ज्ञान हो नकि अमुक व्याधि वातज है या पित्तज इत्यादि का ज्ञान । जैसे ज्वर का पूर्वरूप है-थकाहट मालूम होना, किसी जगह मन न लगना, चेहरा उतर जाना आदि । देवता ब्राह्मण, और गुरु आदि से द्वेष करना भी रोग का सामान्य पूर्वरूप है, क्योंकि इनके कोप से रोग होते हैं । शास्त्रों में लिखा है—व्याधि की जाति-जैसे ज्वर आदि तथा व्याधि का उत्पन्न होना पूर्वरूप से जाना जाता है और अमुक व्याधि वातज है या पित्तज, इत्यादि भेद लक्षण (रूप) से जाना जाता है । पाराशर ने भी लिखा है-जिसके द्वारा उत्पन्न होने वाली व्याधि का ज्ञान हो, यह व्याधि वातज है या पित्तज, इत्यादि भेद का ज्ञान न हो, तो उसे पूर्वरूप कहते हैं । विशेष पूर्वरूप, जैसे-उन्मत्त आदि व्याधि में वात आदि के लक्षण प्रकट न हुए हों तो वेही पूर्वरूप कहलाते हैं । जैसे वहांही लिखा है-(अव्यक्त लक्षणं तेषाम्पूर्वरूपमिति स्मृतम्) अर्थात् वात व्याधियों का प्रकट न भया हुआ लक्षण ही पूर्वरूप कहलाता है । सुश्रुत में भी लिखा है—ज्वर के ये सब पूर्वरूप सामान्य हैं और विशेष ये हैं-वातज्वर का जँभाई, पित्तज्वर का आँख में जलन और कफ ज्वर का अन्न में अरुचि । हारीत ने भी लिखा है—ये आठ प्रकार के सामान्य पूर्वरूप हैं और विशेष-वातज में जँभाई, अँगड़ाई और हृदयोद्वेग आदि हैं ।

इसी प्रकार पित्तज और कफज में भी समझना चाहिए। नन्विति-(शङ्का) यदि पूर्वरूप ही प्रकट होने पर रूप कहलाता है,तो जृम्भा आदि भी रूप कहलायँगे, क्योंकि ये प्रकट पूर्वरूप हैं, अतएव इन्हें पूर्वरूप कैसे कहा ? । (उत्तर) जैसे ज्वर के पूर्वरूप-श्रम आदि से उत्पन्न होने वाली ही व्याधि (ज्वर) का ज्ञान होता है न वातज्वर का, न पित्तज्वर का और न कफज्वर का, इसलिए वे अव्यक्त कहलाते हैं, वैसेही जृम्भा आदि से भी पित्तज्वर या कफज्वर के अतिरिक्त उत्पन्न होने वाले वातज्वर ही का ज्ञान होता है, रूक्ष, शीत और धातुक्षय आदि से उत्पन्न हुए वायु आदि के विशेष रूप का ज्ञान नहीं होता, इसलिए जृम्भा आदि से भली भाँति प्रकट न हुए वातज्वर आदि के ज्ञान होने के कारण जृम्भा आदि रूप नहीं कहला सकते। यह व्याख्यान जेज्जट, वाप्यचन्द्र, माधव, कार्तिक और कुण्ड आदि ने किया है। दूसरे आचार्यों ने तो यह कहा है-जमीन पर बिखरे हुए उर्द को इकट्ठा करने पर, (एक २ उर्द अलग होने पर भी) यह ढेर उर्द का है. ऐसा बोला जाता है और छाता लिये हुए मनुष्यों के साथ विना छाते वालों को जाते देख, लोग बिना छाते वालों की भी गणना छाते वालों में ही करते हैं,वैसेही अव्यक्त (प्रकट न हुए) श्रम आदि पूर्वरूप के साथ रहने से व्यक्त (प्रकट हुए) जृम्भा आदि भी पूर्वरूपही कहलायँगे। नचेति-और व्यक्त होने पर भी जृम्भा आदि को रूप से भिन्न ही समझना चाहिए, क्योंकि यह नियम है कि पूर्वरूप से केवल होने वाली ही व्याधि का ज्ञान होता है और रूप से उत्पन्न हुई व्याधि का। जृम्भा आदि से भावी वातज्वर आदि का ज्ञान होता है इसलिए वे रूप न कहलायँगे। तत्रेति-और विशिष्ट

(विशेष) पूर्वरूप तो रूपावस्था में रहते ही हैं, क्योंकि वेही प्रकट होने पर रूप कहलाते हैं। मनु-इति। दोष और दूष्य के मिलने पर उत्पन्न हुए-रोमाञ्च, बाल प्रद्वेष आदि सामान्य पूर्वरूप रूपावस्था तक नियम से नहीं रहते। यदि रहें तो सभी ज्वर असाध्य हो जाँय। जैसा चरक में लिखा है—व्याधि के सामान्य और विशिष्ट दोनों पूर्वरूप जिस पुरुष में सम्पूर्ण रूप से पाये जायँ तो समझना चाहिए कि व्याधि के छल से मृत्युही उसके पास आई है, अर्थात् वह व्याधि असाध्य होती है। तदेवमिति-अब यह सिद्ध होगया कि सामान्य और विशेष दो प्रकार के पूर्वरूप होते हैं। उन दोनों में पहले सामान्य पूर्वरूप का लक्षण लिखते हैं-दोष-विशेष से अनधिष्ठित अर्थात् वात आदि दोषों के लक्षणों के बिना रोगों के सम्पूर्ण कारणों से उत्पन्न होने वाला रोग जिस लक्षण द्वारा जाना जाय उसे पूर्वरूप कहते हैं। जैसे किसी को श्रम आदि ज्वर के पूर्वरूप हुए हों और वात आदि किसी दोष के वेपथु आदि कोई भी लक्षण न हुए हों तो श्रम आदि से जाना जायगा कि इसे ज्वर आने वाला है, अतएव श्रम आदि ज्वर के सामान्य पूर्वरूप होंगे। विशिष्टेति—अब "लिङ्गमव्यक्त" इत्यादि पद द्वारा विशिष्ट पूर्वरूप का लक्षण लिखते हैं। यहां लिङ्ग शब्द का अर्थ लक्षण है। अव्यक्त अर्थात् अत्यन्त प्रकट न हो। इसमें हेतु बतलाते हैं "अल्पत्वात्" अर्थात् व्याधि के कम होने से न कि किसी व्याधि द्वारा छिप जाने से। "यथायथम्" अर्थात् जिस व्याधि का जो रूप है वही यदि अत्यन्त प्रकट न हुआ हो तो विशिष्ट पूर्वरूप कहलाता है। भाव यह हुआ कि व्याधि के कम होने से अत्यन्त प्रकट न भया हुआ व्याधि का

रूप ही विशिष्ट पूर्वरूप कहलाता है। पर दूसरे आचार्य और तरह का लक्षण लिखते हैं—दोष कुपित होकर स्थान संश्रय *करके अर्थात् जिस स्थान में व्याधि होने वाली होती है उस स्थान में आकर, जिन लक्षणों से होने वाली व्याधि का ज्ञान होता है उन लक्षणों को यदि उत्पन्न करदें तो वे लक्षण पूर्वरूप कहलाते हैं। तन्नेति-परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं. क्योंकि मनुष्य के भोजन में तृण और केश पड़जाने से राजयक्ष्मा रोग का अनुमान होता है, अतएव तृण और केशपतन राजयक्ष्मा का पूर्वरूप होता है, परन्तु अब उपर्युक्त लक्षण से वह पूर्वरूप न हो सकेगा, क्योंकि वे आचार्य तो दोष से भये हुए लक्षण को पूर्वरूप मानते हैं, परन्तु तृण और केशपतन दोष से नहीं होता, किन्तु दुर्भाग्य से। जैसा चरक में लिखा है खान पान की चीज में घून, केश (बाल) और तिनका का प्रायः देख पड़ना तथा केश और नख का बढ़ना राजयक्ष्मा का अदृष्ट से हुआ पूर्वरूप है। तृण केशपतनादि दोषज नहीं माना जा सकता क्योंकि तृण आदि से और दोष से कुछ सम्बन्ध नहीं है और ऐसा कहीं नहीं देखा गया है कि जिससे कुछ सम्बन्ध न हो वह कारण हो। परम्परा सम्बन्ध भी दोष और तृण केश पतन का नहीं हो सकता। ऐसा मानने से दोष होगा और सभी सब के कारण हो जायँगे, क्योंकि परम्परा सम्बन्ध तो किसी न किसी प्रकारसे प्रायः सभी में रहता है, इसलिए पूर्वरूप का यह लक्षण ठीक नहीं है। इन्हीं दोषों के निवारण के लिए अत्यन्त चतुर वाग्भट ने अदृष्ट अथवा दोष से उत्पन्न हुए सभी पूर्वरूप के ग्रहण करने के लिए सामान्यतः (येन) इस पद को लिखा,

* भाविरोगाधिष्ठानस्थानप्राप्तिः स्थानसंश्रयः।

और माधव ने भी इन्हीं सब दोषों के हटाने के लिए उन्हीं का किया हुआ पूर्वरूप का लक्षण "प्राग्रूपं येन" इत्यादि श्लोक को अपने ग्रन्थ में ज्यों का त्यों रखदिया। संक्षेपतस्त्विति-थोड़े में तो यह लक्षण है-जिस लक्षण से होने वाली ही व्याधि का ज्ञान हो उसे पूर्वरूप कहते हैं। इस लक्षण में एव शब्द (ही)इसलिए दिया जिससे निदान,उपशय, और सम्प्राप्ति पूर्वरूप न कहलायँ, क्योंकि इनसे उत्पन्न होने वाली और उत्पन्न भई हुई दोनों ही प्रकार की व्याधि का ज्ञान होता है और पूर्वरूप से एकही प्रकार की (उत्पन्न होने वाली) व्याधि का ज्ञान होता है। तथाहीति-इसी बात को क्रम से दिखलाते हैं। जैसे पाण्डुरोग का निदान-मृत्तिका भक्षण है। यदि कोई मनुष्य मिट्टी खाय तो जाना जायगा कि इसे पाण्डुरोग होगा और पाण्डुरोग के होने पर किसी ऐसी चीज को खाय, जिससे पाण्डुरोग बढ़े तौभी जाना जायगा कि इस रोगी को अमुक वस्तु अनुपशय है--हितकर नहीं है,अतएव निदान से उत्पन्न होने वाली और अनुपशय रूपी उत्पन्न हुई दोनोंही व्याधि का ज्ञान होता है। रोग की पूर्वरूपावस्था में दिये हुए उपशय—रोग को शान्त करने वाले पदार्थ से यदि रोग न होगा तो जाना जायगा कि अमुक रोग इसे होने वाला था, पर इस उपशय से न हुआ। इसी प्रकार रोग की रूपावस्था में उपशय द्रव्य के देने पर यदि रोग शान्त हो जायगा तो समझा जायगा कि अमुक रोग हुआ था और इस उपशय से शान्त हो गया, अतएव उपशय से भी दोनों प्रकार की व्याधि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार पूर्वरूप की सम्प्राप्ति द्वारा मध्याह्न आदि काल में दोषों के प्रकोप द्वारा उत्पन्न होने वाली व्याधि का ज्ञान

होता है और रूप की सम्प्राप्ति से मध्यान्ह आदि काल में दोषों के प्रकोप द्वारा उत्पन्न हुई व्याधि का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार इन तीनों से उत्पन्न होनेवाली और उत्पन्न हुई दोनोंही प्रकार की व्याधि का ज्ञान होता है। नन्विति (शङ्का) जब किसी पुरुष को कोई व्याधि उत्पन्न हुई हो, परन्तु उस व्याधि का निश्चय न होता हो कि यह कौनसी व्याधि है तो यदि उस समय पूर्वरूप के तरफ ध्यान दिया जाय कि इसे जो पहले पूर्वरूप हुआ था वह किस व्याधि का था, बाद उसके स्मरण होते ही व्याधि का पता लग जायगा, इसलिए पूर्वरूप से भी उत्पन्न होने वाली और उत्पन्न हुई दोनोंही प्रकार की व्याधि का ज्ञान होता है, अतएव यह कहना कि पूर्वरूप से होने वाली ही व्याधि का ज्ञान होता है, ठीक नहीं। चरक में भी लिखा है-किसी मनुष्य का मूत्र यदि हल्दी के रंग सा हो और उसके साथ रुधिर निकलता हो तो प्रमेह न समझना चाहिए, किन्तु उस समय पूर्वरूप का पता लगाना चाहिए कि इसे प्रमेह का पूर्वरूप पहले हुआ था या नहीं, यदि नहीं तो उसे रक्तपित्त समझना चाहिए, प्रमेह नहीं। अत्रोच्यते—(उत्तर) व्याधि के उत्पन्न होने के पहले उसके पूर्वरूप का ज्ञान किया गया था या नहीं ? यदि किया गया था तो उस पूर्वरूप-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली व्याधि का ज्ञान हुआ, सो ठीकही है। यदि नहीं तो स्मरण ही नहीं हो सकता, क्योंकि व्याधि होने के पहले पूर्वरूप का अनुभव तो हुआही नहीं, इसलिए पूर्वरूप से वर्तमान व्याधि का ज्ञान नहीं हो सकता किन्तु भावीही व्याधि का। अथोच्यते-इति—नहीं, यह बात नहीं, जैसे किसी को दाँत और हाथ पैर का मैला होना आदि प्रमेह का पूर्वरूप हुआ और उस समय केवल स्वरूपसे

यह जाना कि अमुक पुरुष के दाँत और हाथ पैर में मैल बैठ गई है, परन्तु प्रमेह के पूर्वरूप के तरफ ध्यान न गया। बाद प्रमेह के उत्पन्न होने पर उस पूर्वरूप का, जिसको पहले केवल स्वरूप मात्र से जाना था, स्मरण होते ही मालूम हो गया कि यह प्रमेह ही है, तो इस प्रकार पूर्वरूप से उत्पन्न हुई व्याधि का भी ज्ञान होता ही है। पत्रमिति—अच्छा माना कि वर्तमान व्याधि का ज्ञान पूर्वरूप के स्मरण से हुआ तो पूर्वरूप का स्मरण कारण हुआ न कि पूर्वरूप, क्योंकि व्याधि की रूपावस्था में पूर्वरूप तो रहता ही नहीं। यदि यह माना जाय कि स्मरण से तो व्याधि का ज्ञान होता नहीं, किन्तु पूर्वरूप से होता है, अतएव स्मरण कारण नहीं हो सकता, सो ठीक नहीं। जिस प्रकार किसी मनुष्य ने पहले घड़ा देखा और फिर दूसरा घड़ा देखने पर पहले घड़ा का जो संस्कार था उसी संस्कार द्वारा स्मरण हुआ कि मैंने पहले जो घड़ा देखा था वह भी ऐसा ही था। बाद उस स्मरण के साथ नेत्र से अर्थात् स्मरण और नेत्र दोनों से उस दूसरे घड़ा का ज्ञान होता है। उसी प्रकार स्मरण और पूर्वरूप दोनों से व्याधि का ज्ञान होता है, एक से नहीं। श्रेष्ठों के वचनों से (बतलाए हुए लक्षणों) से भी व्याधि के ज्ञान होने में सहायता मिलती है अतएव उसके द्वारा भी स्मरण के सदृश व्याधिज्ञान होता है, ऐसा न समझना चाहिए, क्योंकि वह (आप्तोपदेश) लिङ्ग नहीं है। रूप भी पूर्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि उस से वर्तमान ही व्याधि का ज्ञान होता है, भावी व्याधि का ज्ञान नहीं, इसीलिए पूर्वरूप के लक्षण में भावी शब्द दिया है। यद्यपि भावी व्याधि के ज्ञान में नेत्र से भी सहायता मिलती है, क्योंकि उससे भावी व्याधि के

लक्षण देखे जाते हैं, तो भी नेत्र पूर्वरूप नहीं हो सकता, क्यों कि वह लिङ्ग नहीं है। लिङ्ग उसे ही कहते हैं, जिस से किसी विशेष वस्तु का ज्ञान होता है। नेत्र से तो सामान्य विशेष सभी चीज़ों का ज्ञान होता है, और पूर्वरूप से होने वाली ही विशेष व्याधि का ज्ञान होता है अतएव वह लिङ्ग है। जैसे अधिक बादलों की घटाओं के द्वारा होने वाली वृष्टि का ज्ञान होता है।

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।

संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिन्हमाकृतिः ॥७॥

यद्यपि पूर्वरूप के बाद व्याधि की सम्प्राप्ति होती है अतएव पहले उसे ही कहना चाहिए तो भी व्याधि के स्वरुप जानने के लिए पहले रूप को ही कहते हैं। तदेवेति-पूर्वरूप ही प्रकट होने पर रूप कहलाता है। नन्विति (शङ्का) सम्पूर्ण पूर्व रूप के प्रकट होने पर रूप कहलाता है या उसके कुछ अंशो के प्रकट होने पर? इन में से पहली बात के मानने पर सभी रोग असाध्य हो जायँगे। जैसा चरक में लिखा है—जिस रोग में सम्पूर्ण पूर्वरूप पाये जाते हैं तो वह रोग असाध्य होता है। दूसरी बात के मानने पर वातज्वर का पूर्वरूप—जँभाई और पित्तज्वर का पूर्वरूप आँख की जलन आदि भी रूप कहलाने लगेंगे। नैवमिति—(उत्तर) नहीं! यह बात नहीं! जिस प्रकार धूम मात्र से अग्नि का ज्ञान होता है, चाहे वह धूम तृणों के जलने से हुआ हो अथवा पत्तों के जलने से हुआ हो, उसी प्रकार पूर्वरूप मात्र के प्रकट होने पर रूप कहलाता है। चाहे सम्पूर्ण पूर्वरूप प्रकट हुआ हो अथवा उसका कुछ अंश। जब ऐसी बात है तो यदि सम्पूर्ण पूर्वरूप प्रकट हुआ होगा तो व्याधि असाध्य होगी और यदि कुछ अंशों में प्रकट हुआ

होगा तो साध्य। जृम्भा आदि भी रूप नहीं कहला सकते, क्योंकि रूप वेही कहलाते हैं जो पहले से अव्यक्त रह कर पीछे व्यक्त होते हैं, परन्तु सो बात जृम्भा आदि में नहीं, क्योंकि वे पहले ही से व्यक्त रहते हैं। और दूसरे अव्यक्त श्रम आदि बहुत से पूर्वरूपों के साथ होने से तथा पूर्वरूप और रूप के एक समय न होने से भी जृम्भा आदि रूप नहीं कहला सकते। ईश्वरेति—ईश्वरसेन ने तो दूसरे प्रकार रूप का लक्षण लिखा है—व्याधि के व्यक्त हुए स्वरूप को रूप कहते हैं। परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है। सब प्रकार से इस लक्षण में दोष आता है। अब उन्हीं दोषों को "तथाहि" इस पद द्वारा दिखलाते हैं (शंका) यदि व्याधिके व्यक्त हुए स्वरूप को रूप कहते हैं तो स्वरूप पद से क्या मतलब? व्याधि की सूरत, या व्याधि का धर्म, अथवा व्याधि का कार्य? परन्तु स्वरूप पद से सूरत तो नहीं मानी जा सकती, क्यों कि एक ही वस्तु कारण और कार्य नहीं हो सकती[1] रूप को व्याधि के ज्ञान का कारण बतलाया है, यदि उसे ही व्याधि का स्वभाव (सूरत) माना जाय तो व्याधि के स्वरूप ही से व्याधि के ज्ञान होने पर एक वस्तु में कारण कार्य भाव स्पष्ट ही दीखता है। नापीति-स्वरूप पद से व्याधिका धर्म भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि चरक में जो अर्शके रूप त्वचा, नख, मल और मूत्र आदि का काला होना, लिखा है सो वे अब अर्श के रूप न कहलायँगे, क्योंकि धर्मी में धर्म रहता है, किन्तु ये (कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्र आदि) अर्शके धर्म नहीं है, क्योंकि ये अर्श में नहीं रहते। नापीति-स्वरूप

१ जैसे आग अपने को (आग को) खुद जलाये या तलवार अपनी धार खुद काटे; परन्तु ऐसा नहीं होता।

पद से व्याधि का कार्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्याधि के उपद्रव भी रूप कहलाने लगेंगे। तदपि-इति-यदि यह कहा जाय कि उपद्रव से कृच्छ्रसाध्य और असाध्य व्याधि का तो ज्ञान होताही है तो उन्हें रूप होने में कौन आपत्ति है? परन्तु सो बात नहीं। उससे व्याधि की असाध्यता आदि का ज्ञान होता है, व्याधिका ज्ञान तो उपद्रव होने के पहले ही होजाता है और उपद्रव तो व्याधि के भेद हैं, उसके ज्ञान के कारण नहीं। जैसा कि पहलेही इसी ग्रन्थ में (सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्) कहा है। नन्विति-उपद्रव तो व्याधि के कार्य नहीं है, किन्तु व्याधि के उत्पन्न करने वाले दोष के कार्य हैं, अतएव यह कहना कि स्वरूप पद से व्याधि का कार्य मानने पर व्याधि के उपद्रव भी रूप कहलायँगे, ठीक नहीं। जैसा सुश्रुत में लिखा है—" स तन्मूलमूल एवोपद्रवसंज्ञकः " इसकी व्याख्या टीकाकार यों करते हैं—व्याधिका मूल (कारण) जिसका कारण होता है उसे उपद्रव कहते हैं। अर्थात् जिस दोष से पहला रोग होता है उसी दोष से फिर दूसरा रोग हो तो उस दूसरे रोग को उपद्रव कहते हैं। (नैवं) नहीं, सुश्रुत का यह अभिप्राय नहीं है, किन्तु व्याधि के उत्पन्न होने पर अपथ्य करने से जिस दोष से व्याधि हुई होती है उस दोष के बढ़ जाने से व्याधि बलिष्ठ होकर दूसरी व्याधि को उत्पन्न करती है तो उसको उपद्रव कहते हैं (यह आशय तन्मूलमूल का है) इसी आशय से चरक में लिखा है—" कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति- कोई रोग रोग को उत्पन्न कर के आप शान्त हो जाता है। इसलिए स्वरूप पद से न केवल स्वरूप (सूरत), न धर्म

अथवा न केवल कार्य माना जा सकता है, किन्तु कहीं तो सूरत, कहीं धर्म और कहीं कार्य मानना चाहिए। और ऐसा मानने पर कोई दोष भी नहीं हो सकता, अतएव "व्याधेः स्वरूपं यद् व्यक्तं तद्रूपम्, यह लक्षण ठीक है (यह किसी का मत है)। परन्तु तौ भी यह केवल निर्वाह मात्र है ठीक लक्षण नहीं, क्योंकि उस लक्षणमें कोई एक भी ऐसा धर्म (पद) नहीं जिस से सभी रूप का ग्रहण हो जाय और किसी प्रकार का दोष न हो। और उस लक्षण के मानने पर वस्तुतः उपद्रव भी रूप कहलायँगे ही, इसलिए "उत्पन्न व्याधि बोधकमेव लिङ्गं रूपम्" यह लक्षण ठीक है। अर्थात् जिस लिङ्ग (लक्षण) से उत्पन्न ही व्याधि का ज्ञान हो उसे रूप कहते हैं। यद्यपि उत्पन्न पद के विना भी "व्याधि बोधकमेव लिङ्गं रूपम्" इतना ही लक्षण पर्याप्त (काफी) था, तौभी पूर्वरूप रूप न कहलाय इसलिए उत्पन्न शब्द लिखा, क्योंकि व्याधि का ज्ञान तो पूर्वरूप से भी होता है, परन्तु उत्पन्न शब्द देने पर पूर्वरूप रूप नहीं कहला सकता, क्योंकि उससे उत्पन्न हुई व्याधि का ज्ञान नहीं होता, किन्तु होने वाली ही व्याधि का ज्ञान होता है। लिङ्ग शब्द इसलिए दिया जिससे चक्षु आदि रूप न कहलायँ। एव शब्द इसलिए दिया, जिससे निदान, सम्प्राप्ति और उपशय पर रूप का लक्षण न घट जाय, क्योंकि इनसे उत्पन्न हुई और उत्पन्न होने वाली दोनों ही प्रकार की व्याधि का ज्ञान होता है। इस बात को पहले ही लिख दिया है। लिङ्ग पद इस लिए दिया जिस से नेत्र आदि रूप न कह लायँ; क्यों कि नेत्र आदि लिङ्ग नहीं है*। कितने लोग व्याधि के जन्म को

* नेत्र लिङ्ग क्यों नहीं है, इस बात को पूर्वरूप के प्रकरण में लिख दिया है।

सम्प्राप्ति मानते हैं ऐसी सम्प्राप्ति भी रूप न कहलाय, यह भी लिङ्ग शब्द ग्रहण करने का फल है, क्योंकि व्याधि का ज्ञान सम्प्राप्ति से भी होता है, परन्तु लिङ्ग शब्द के ग्रहण करने पर सम्प्राप्ति रूप नहीं कहला सकती, क्योंकि सम्प्राप्ति व्याधि-ज्ञान में लिङ्ग नहीं है केवल कारण मात्र है। शास्त्र इति—शास्त्र में प्रयोग करने के लिए और निदान के सदृश लक्षण करने के लिए भी रूप शब्द का संस्थान आदि पर्याय लिखते हैं। अर्थात् रूप शब्द के बदले में संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिन्ह और आकृति, इन शब्दों का प्रयोग किया जायगा, अतएव इनका भी अर्थ रूपही समझना चाहिए। तथा इन पर्यायों का जो अर्थ हो उसे रूप कहते हैं। यह लक्षण निदान के लक्षण के सदृश हुआ।

ऊपर जो यह बतलाया है कि रूप से व्याधि का ज्ञान होता है सो ठीक नहीं, क्योंकि रूप से व्याधि दूसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि अरुचि आदि ही मिलकर ज्वर कहलाता है। अरुचि आदि से ज्वर और ज्वर से अरुचि आदि भिन्न नहीं है। इसी प्रकार कास आदि ग्यारह रोगही राजयक्ष्मा होता है। कास आदि से राजयक्ष्मा कोई दूसरी व्याधि नहीं है। उच्यते-इति-नहीं यह बात नहीं! अपने २ कारणों से कुपित होकर दोष जब दूष्य के साथ मिलते हैं तो वह उनका मिलनाही व्याधि कही जाती है और अरुचि आदि तो व्याधि के कार्य होते हैं। अथवा यों माना जाय कि अरुचि आदि हरएक रूप हैं और उनका समुदाय (इकट्ठा) व्याधि, क्योंकि समुदाय और समुदायी (हरएक वस्तु) में बड़ा फर्क होता है। जैसे " खदिरतरूणां वनम् " खैर या कत्था का वन। यद्यपि खैर के पेड़ही वन हैं। वन से पेड़ या पेड़ से वन दूसरी चीज नहीं, तथापि पेड़ों

का समुदाय (इकठ्ठा) वन और समुदायी-प्रत्येक पेड़ में फर्क अवश्य है। उसी प्रकार हर एक अरुचि आदि रोग रूप कहलायँगे और इकट्ठे होनेपर ज्वर आदि व्याधि। इस लिए रूप और व्याधि में अवश्य फर्क है और रूप से व्याधि का ज्ञान होता ही है। अन्य इति-पर दूसरे आचार्यों का कहना है कि "राहोः शिरः" शिला पुत्रस्य शरीरम्" अर्थात् राहु का शिर और शिला-पुत्र (लोढ़ा) का शरीर। इसमें यद्यपि भेद नहीं है, क्योंकि शिर ही राहु है और शरीर ही लोढ़ा है। शिर से राहु और शरीर (पत्थर) से लोढ़ा कोई दूसरी चीज नहीं है, तौभी इन दोनों में जो भेद माना जाता है वह केवल बोलने की चाल है *, वस्तुतः भेद नहीं है। उसी प्रकार "खदिर तरूणां वनम्" यहाँ भी वस्तुतः भेद नहीं है, किन्तु बोलने की चाल है। भाव यह हुआ कि समुदाय और समुदायी में भेद होता है, यह जो पहले कहा था, सो ठीक नहीं। वस्तुतः समुदाय और समुदायी में भेद नहीं होता। किसी प्रकार मान लिया जाता है। इसलिए अरुचि आदि समुदायी-प्रत्येक (रूप) और उसका समुदाय (इकठ्ठा) व्याधि में फर्क नहीं है। नैयायिकास्त्विति—परन्तु नैयायिक लोग तो (न्याय के पढ़ने और पढ़ाने वाले) भेद मानते ही हैं। अर्थात् राहु का राहुत्व धर्म और शिर का शिरस्त्व धर्म, एवं शिला-पुत्र का शिलापुत्रत्व धर्म और शरीर का शरीरत्व धर्म, आपस में एक दूसरे से भेद अवश्य रखता है, क्योंकि सब का धर्म एक नहीं हो सकता,

---

* या यों समझना चाहिए जैसे-"चक्की का पाट" यद्यपि चक्की और पाट में कुछ भेद नहीं, दोनों पाट ही मिलकर चक्की कहलाती है, तो भी केवल बोलने की चाल है, जिससे भेद मालूम देता है॥

अतएव वस्तुतः है। इस लिए समुदाय और समुदायी में भेद होता ही है। तो रूप और व्याधि में भी भेद हुआ, इस लिए रूप से व्याधि के ज्ञान होने में कोई भी बाधा नहीं है।

नन्विति—(शङ्का) "विकारो दुःखमेवच" इस वचन द्वारा चरक ने विकार और दुःख शब्द को व्याधि का पर्याय (एक अर्थ वाला) बतलाया है, अतएव ऊपर जो यह कहा गया है कि अरुचि आदि का समुदाय—इकट्ठा हो जाना ही व्याधि (दुःख) है, सो ठीक नहीं, क्योंकि दुःख तो आत्मा का गुण है * किन्तु अरुचि आदि तो शरीर में होते हैं, इस लिए शारीरिक व्याधि—अरुचि आदि इकट्ठा होकर आत्मा का गुण "दुःख" कैसे हो सकते हैं ?। नैवमिति-(उत्तर) परन्तु ऐसी शङ्का न करनी चाहिए, क्योंकि चरक ने व्याधि का पर्याय जो "दुःख" लिखा है, सो "दुःखयतीति दुःखम्" इस व्युत्पत्ति से दुःख शब्द का अर्थ वहां दुःख देना वाला है। उस दुःख का कारण "धातुवैषम्य, आदि है, और उसी धातुवैषम्य आदि को व्याधि माना है और अरुचि आदि तो स्वयं रोग हैं, परन्तु जब इनके द्वारा दूसरे रोगों का ज्ञान होता है तब ये लिङ्ग (उस रोग के लक्षण) कहलाते हैं। जैसा चरक में लिखा है—व्याधिकी गणना में व्याधि के ज्ञान के लिए जिन्हें व्याधिका लिङ्ग बतलाया है, वे वस्तुतः रोगही हैं परन्तु जब उनसे व्याधिका ज्ञान होता है

* यह मत नैयायिकों का है, सब दार्शनिकों का नहीं। जैसे— कारिकावली में लिखा है—बुध्ययादिषट्कं संख्यादि पञ्चकं भावना तथा॥ धर्माधर्मौ, गुणा एत आत्मनः स्युश्चतुर्दश॥ बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावना, संस्कार तथा धर्म और अधर्म,-इतने गुण आत्मा के हैं॥

तब वे लिङ्गही कहलाते हैं, रोग नहीं । जैसे-अरुचि आदिसे कफज्वर का ज्ञान होता है, अतएव अरुचि आदि कफज्वर के लिङ्ग कहलाँयगे, परन्तु वास्तव में ये रोगही हैं । इसलिए आत्माका जो गुण-दुःख है, उसमें, और चरक के कहे हुए दुःख में बहुत फर्क है, क्योंकि चरक ने दुःख देने वाले " धातु वैषम्य को दुःख माना है और धातु वैषम्य से जो दुःख होता है वह (पीड़ा) आत्मा का गुण है ।

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ॥
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ८ ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ॥
विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥ ९ ॥

हेतुरिति—हेतु (कारण) दो प्रकार का होता है । एक बाहरी दूसरा भीतरी, तथा व्याधि जैसे ज्वर आदि । इनमें पृथक् २ एक २ का और समस्त का विपर्यस्त (विपरीत) और विपर्यस्तार्थकारी अर्थात् निदान के समान होने परभी अपनी शक्ति से रोगों को शान्त करने वाले-औषध, अन्न और विहार के सुखकर उपयोग को उपशय कहते हैं । तस्येति—उपशय का पर्याय-समानार्थक "सात्म्य" शब्द है । चरक ने भी सात्म्य और उपशय का एकही अर्थ लिखा है । उक्त श्लोक में " हि " शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है । केवल पाद-पूर्ति के लिए ही उसका प्रयोग किया गया है । सुखावहमिति-रोगका समूल नष्ट हो जाना ही सुख शब्द का अर्थ है । लोक में भी शिरसे बोझा उतर जानेपर " अहाहा कैसा सुख मिला " इस प्रकार सुख शब्द का प्रयोग किया

आता है। परन्तु औषधान्नविहार के द्वारा जो सुख मिलता है उसे बराबर रहना चाहिए, थोड़ी देर के लिए नहीं, क्योंकि जिस पुरुष को ज्वर आया हो और जलन तथा प्यास भी खूब हो, उसमें यद्यपि उस मनुष्य को ठंढा जल पिलाने से उस समय सुख मिलता है पर बहुत काल तक उस सुख के न रहने से वह उपशय नहीं कहला सकता, क्योंकि उस जलसे तुरन्तही सन्निपात आदि हो जाते हैं। यहां औषध, अन्न और विहार केवल उदाहरण मात्र है, किन्तु देशकाल भी समझना चाहिए। अर्थात् जिस देश या कालमें व्याधि अच्छी हो जाय तो वह देशकाल भी उपशय कहलायगा। इसी आशय से वाग्भटने व्याधि आदि को कह कर "एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ" इस से देशकाल का भी ग्रहण हुआ, ऐसा लिखा है। सुदान्त सेनका मत है कि जिस कारण से या जिस देश और काल में दोष और व्याधि शान्त हो जाँय उसे उपशय कहते हैं और इससे भिन्न को अनुपशय। उपशय का थोड़े में लक्षण यह है "औषधादिजनितसुखानुबन्ध उपशयः" औषध आदि से चिरकाल तक होने वाले सुख को उपशय कहते हैं। चन्दन, पुष्पमाला और स्त्री आदि के उपभोग से भी यद्यपि सुख मिलता है तौभी ये उपशय नहीं कहला सकते, इसी लिए लक्षण में औषधादि पदका ग्रहण किया है जिससे ये उपशय न कहलाँय। अनुबन्ध पद का इसलिए ग्रहण किया जिससे अपथ्य आदि से उत्पन्न हुए सुख उपशय न कहलाँय, क्योंकि अपथ्य द्वारा जो सुख मिलता है वह चिरकाल तक नहीं रहता। पीछे उससे और कष्टही मिलता है। यह भी केवल उदाहरण मात्र है, लक्षण नहीं क्योंकि हेतुव्याधि से विपरीत औषध, अन्न और

विहार परस्पर विरोध रखते हैं। जहां औषध से सुख मिलता है वहां अन्न से दुःख, जहां अन्न से सुख वहां विहार से दुःख। इसलिए "सर्वैर्व्याधिजदुःखोपशमहेतुरुपशयः" अथवा "सात्म्यमुपशयः" या "औषधजनित सुखानुबन्ध उपशयः" यह लक्षण ठीक है। अर्थात् व्याधि से उत्पन्न हुआ दुःख जिस कारण से अच्छी तरह शान्त हो उसे उपशय कहते हैं, या जो वस्तु आत्मा के अनुकूल हो— दिल के माफिक हो उसे उपशय कहते हैं, अथवा औषध से उत्पन्न चिरकाल तक होने वाले सुख को उपशय कहते हैं। पिछले लक्षण में यद्यपि अन्न, विहार, देश और काल आदि का ग्रहण नहीं किया गया तौभी औषध पदही से इनका भी ग्रहण होजायगा, क्योंकि चरक में द्रव्य या द्रव्य से भिन्न-आहार, आचार, देश, काल और लङ्घन आदि सभी का ग्रहण औषध पदही से किया है। अथेति-अब उपशय के उदाहरण लिखते हैं—हेतु (निदान) विपरीत औषध जैसे-शीत कफज्वर में सोंठ आदि का प्रयोग। यह कफ हेतु से विपरीत गरम औषध हुई। जैसा लिखा है—"शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः[1]। येच शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्[2]" अर्थात् अच्छे वैद्य गरम से उत्पन्न हुए रोगको ठण्डी औषध से और शीत से उत्पन्न हुए रोगको गरम औषध से नष्ट करते हैं। हेतु विपरीत अन्न जैसे-श्रम से उत्पन्न वातज्वर में मांसरस (सुरवा) और भात का प्रयोग। (यह श्रम और वायु हेतु से विपरीत औषध हुई)

---

१ भिषक्षु विदः भिषग्विदः, वैद्येषु ज्ञानिन इत्यर्थः ॥ २ भिषजां वैद्यानां जितं-जयो यस्मात्तत् भिषग्जितम्=औषधमित्यर्थः ॥

हेतु विपरीत विहार जैसे-दिनमें सोने से कुपित हुए कफ में दिवाशयन हेतु से विपरीत रातमें जागना। अथेति—

व्याधि-विपरीत औषध, जैसे—अतीसार में दस्त को रोकने वाला पाठा आदि, तथा विषमें शिरीष, कुष्ठ में खैर और प्रमेह में हल्दी का उपयोग। किसी भी दोष का प्रकोप हो, उनकी अपेक्षा न करके ये औषधें अपनी शक्ति से रोगको शान्त ही करदेती हैं। वाप्यचन्द्रने लिखा है कि जो औषधें व्याधिका नाश करती हैं वे दोषका भी नाश अवश्य करती हैं। परन्तु दोषनाशक और व्याधिनाशक औषध में भेद है। यह निश्चय नहीं है कि जो औषध दोष का नाश करती हो वह व्याधि का भी नाश करती हो। जैसे—वमन (कै) और लङ्घन (उपवास) कफ दोष का हरण करता है,परन्तु कफसे उत्पन्न हुए गुल्म का नाश नहीं करता। जैसा चरक में लिखा है—लङ्घन द्वारा कफ शान्त होने योग्य भी हो पर यदि उस कफ से ज्वर या गुल्म उत्पन्न हुआ हो तो लङ्घन के अनुकूल देश या काल के होने पर भी लङ्घन न कराना चाहिए। तथा न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं नचापि पाण्डुरोगिणम्। अर्थात् जिस मनुष्य को रतौंधी, गुल्म या पाण्डुरोग हुआ हो तो उसे वमन न कराना चाहिए। यदिति—परन्तु हां! जो औषध व्याधि का नाश करती है वह दोष का भी नाश अवश्य करती है अर्थात् व्याधिका नाश करती हुई व्याधि के उत्पन्न करने वाले दोषों का भी नाश अवश्य करती है, नहीं तो समझना चाहिए कि रोग नष्ट ही नहीं हुआ, क्योंकि कारण तो बना ही है। तन्नातिसङ्गतम्-परन्तु यह बात ठीक नहीं, यदि कारण के रहने पर कार्य

रहता ही है तो दोष यहां कौनसा कारण[1] है, समवायि या निमित्त ? यदि दोष को समवायि कारण माना जाय तो यह नियम नहीं है कि समवायि कारण के नाश हो जाने पर उसके कार्य का भी नाश होजाय। अतएव दोष के न रहने पर हीं व्याधि न रहेगी यह कहना ठीक नही है। हां! असमवायि कारण दोष माना जा सकता है, क्योंकि उसमें यह नियम

१ कारण तीन प्रकार के होते हैं। समवायि, असमवायि और निमित्त। एक सम्बन्ध का नाम समवाय सम्बन्ध है। जिस कारण से कार्य समवाय सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होता है उसे समवायि कारण कहते हैं। जैसे घड़ा का समवायि कारण दो कपाल [खप्पर] होता है। घड़ा [कार्य] कपाल [कारण] से समवाय सम्बन्धद्वारा उत्पन्न होता है इसलिए कपाल घड़ाका समवायि कारण होता है। जो, कार्य अथवा कारणके साथ होकर समवाय सम्बन्ध से एक वस्तु में रहता हुआ कार्य उत्पन्न करता है उसे असमवायि कारण कहते हैं। जैसे घड़ा [कार्य] के साथ एक वस्तु [कपाल] में समवाय सबन्ध से रहता हुआ कपाल—संयोग [दो खप्परों का इकट्ठा होना] घड़ा उत्पन्न करता है, इसलिए घड़ा का कपालसंयोग असमवायि कारण होता है, इसी प्रकार घड़ा के रूपका समवायि कारण (घड़ा) के साथ होकर एकवस्तु [कपाल के रूपमें] समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ घड़ा का रूप उत्पन्न करता है, इसलिए कपाल का रूप घड़ाके रूपका असमवायि कारण होता है। इन दोनों कारणों से भिन्न जितने कारण हैं, उन सबको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे—घड़ाका निमित्त कारण—कुम्भार, दण्ड और चाक आदि है।

है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। जैसे घड़ा के असम वायि कारण—दो कपालों (खप्परों) के संयोग के नाश हो जाने पर घड़ा नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार रोग भी सम्प्राप्ति रूपी असमवायि कारण के नाश हो जाने पर नष्ट हो जायगा और दोष स्वयं या किसी दूसरी चिकित्सा द्वारा नष्ट हो ही जायगा। किञ्चेति-और यदि यह माना जाय कि जो औषध व्याधिनाशक है वह अवश्य दोष-नाशक भी है तो फिर आगे जो हेतुव्याधि-उभय विपरीत उपशय दिखलायेंगे वह व्यर्थही हो जायगा, क्योंकि अबतो व्याधिविपरीत एकही प्रकार की औषधसे दोनों नष्ट हो जाँयगे, इसलिए यह ठीक नहीं कि जो औषध व्याधिनाशक हो वह अवश्य दोष नाशक भी हो। नन्विति-यदि दोष निमित्त कारण माना जाय तो दोष से उत्पन्न हुए रोगमें दोष के नाश के लिए वमन क्यों कराया जाता? क्योंकि यह नियम नहीं है कि निमित्त कारण के नाश हो जाने पर उसके कार्य का भी नाश हो जाय। घड़ा का निमित्त कारण दण्ड (चाक को घुमाने वाला) और कुम्हार आदि के नाश हो जाने पर घड़ा का नाश नहीं होता। इसी प्रकार निमित्त कारण—दोष के नाश हो जाने पर व्याधिका नाश नहीं हो सकता, इसलिए दोष निमित्त कारण भी नहीं माना जा सकता। उच्यते—जहां निमित्त कारण के वर्तमान रहने तक ही कार्य रहता है, वहां निमित्त कारण के नाश हो जाने पर कार्य का भी नाश अवश्य हो जाता है। जैसे—जब तक तेल और बत्ती बनी रहती है तब तक दीपक जलता रहता है और जब उस का निमित्त कारण—तेल और बत्ती का नाश नाश हो जाता है तब दीपक बुझ जाता है। यही हाल प्रायः

दोषका भी है। जब तक दोष कुपित रहता है तब तक व्याधि बनी रहती है और जब दोष कुपित नहीं रहता तब व्याधिभी नष्ट हो जाती है। अन्नमिति—व्याधि विपरीत अन्न जैसे अतीसारमें (अतीसार का रोकने वाला) मसूर आदि अन्न। व्याधिविपरीत विहार जैसे—उदावर्त रोगमें प्रवाहण (काँखना)। मन्त्र और प्रायश्चित्त आदि से भी रोग नष्ट होते हैं तो इनकी गणना किस में होगी? यह शङ्का करते हुए "मन्त्रौषधिविधारण" आदि पद लिखते हैं। अर्थात् मन्त्र से झाड़ना, औषधि का धारण करना, बलिदेना, व्रत रहना, प्रायश्चित्त, होम. गुरुसेवा और देवसेवा आदि भी व्याधि विपरीत विहारही है। (यह वाप्यचन्द्र का मत है) अब हेतु और व्याधि दोनों के विपरीत औषध आदि का उदाहरण दिखलाते हैं। हेतुव्याधि विपरीत औषध जैसे-वायुसे उत्पन्न हुए सूजन में वायु और सूजन दोनों का नाश करने वाला दशमूल का काढ़ा। जैसा चरक के षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में लिखा है- पाटलाग्निमन्थबिल्वस्योनाककाश्मर्यकण्टकारिकाबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरका इति दशेमानि शोथहराणि भवन्ति। हेतुव्याधि विपरीत अन्न जैसे—वायु और कफ से उत्पन्न हुई संग्रहणी में मठा, और शीतवायु से उत्पन्न ज्वर में "पेया"। पेया गरम होने के कारण वायुका नाश करती है और अपने प्रभाव से ज्वर का भी नाश करती है। जैसे चरक में लिखा है—पेया ज्वर में हितकारक है, अतएव ज्वर का नाश करती है। सुश्रुत में भी लिखा है—ज्वर और अतीसार में यवागू सर्वदा हितकर है। हेतुव्याधि विपरीत विहारजैसे- स्निग्ध-गुण-प्रधान दिवाशयन से उत्पन्न हुई तन्द्रा में

स्निग्ध और तन्द्रा से विपरीत रूक्षगुणप्रधान रात्रिजागरण। अर्थेति—हेतुविपरीतार्थकारी औषध, जैसे—पित्तसे उत्पन्न, पकते हुए व्रणशोथ पर पित्तकारी (गरम) औषध का लेप। हेतुविपरीतार्थकारी अन्न जैसे—उसी पैत्तिक शोथ में विदाही अन्न (राई आदि)। हेतुविपरीतार्थकारी विहार, जैसे—वायुसे उत्पन्न हुए उन्माद रोग में त्रासन (डराना)। व्याधिविपरीतार्थकारी औषध, जैसे—कै में कै कराने वाला मैनफल। व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न, जैसे-अतीसार में दस्त होने के लिए दूध। व्याधि विपरीतार्थकारी विहार, जैसे—कै में कै होने के लिए काँखना। हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध, जैसे आगसे जलने पर अगर आदि का गरम लेप और विषरोग में विष। हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी अन्न, जैसे—मद्यपान से उत्पन्न हुए मदात्यय रोग में मद करने वाला मद्य। हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी विहार जैसे—व्यायाम से कुपित हुए वायु में जलमें तैर करके और व्यायाम करना।

अत्यन्त कुपित कफ से उत्पन्न वमन कराने योग्य वमन में यदि वमन फिर न कराया जाय तो रोग बहुत काल तक बना रहेगा या असाध्य हो जायगा और बाद वमन कराने पर वह वमन दोष [कफ] को ही शान्त करेगा, इसलिए यह चिकित्सा दोष विपरीत ही होगी। जैसा सुश्रुत में लिखा है जिस वमन में बहुत दोष हो तो उसमें वमन कराना विशेष हितकर है। इसी प्रकार आगसे जल जाने पर जो उष्ण चिकित्सा की जाती है और उससे रक्त पिघल कर दूसरी जगह चला जाता है, वह भी हेतुविपरीत ही है, नहीं तो जिस स्थान पर जलता है वहांका रक्त कुपित होकर उस

स्थान को पका दे । जैसा सुश्रुत में लिखा है—[आगसे जलने पर रक्त अत्यन्त कुपित हो जाता है और उसी वेगसे पित्तभी बढ़ जाता है, ऐसी अवस्था में शीतचिकित्सा न करनी चाहिए, क्योंकि शीतचिकित्सा से खून जम ने का डर रहता है । सुश्रुत में लिखा है—जलका स्वभाव ठण्डा होता है, इसलिए वह खूनको जमा देता है, अतएव जलने पर गरम औषध का प्रयोग करना चाहिए, ठंडी का नहीं । उसी प्रकार ऊपर चढने वाले—जङ्गम विष में [सर्प आदि के] नीचे जाने वाले—मूल विष [कालकूट] आदि का जो प्रयोग किया जाता है वह भी हेतुविपरीतही औषध है । जैसा चरक में लिखा है—विष विष का नाशक है, यह जो कहा है, सो उसमें ऐसा प्रभाव रहता है कि विष विषका नाश करता है, और कोई कारण नहीं है । और ऊर्ध्व गतिवाले-जङ्गम विषमें जो अधोगति वाले-स्थावर विष का प्रयोग किया जाता है सो उसमें केवल प्रभाव कारण है, जिससे ऊर्ध्वगति वाला विष अधोगति वाले विषसे दब जाता है । मद्यपान से उत्पन्न हुए मदात्यय रोग में मद्य का प्रयोग करना जो सुश्रुत में लिखा है, वह भी नीबू और चूका से मिलाही हुआ, केवल मद्य नहीं । केवल—किसी चीज से न मिला हुआ शुद्ध मद्य और किसी द्रव्यसे मिले हुए मद्य में भिन्न २ गुण रहता है । अथवेति—या रूक्ष गुण प्रधान माध्वीक मद्य से उत्पन्न मदात्यय रोगमें स्निग्ध पैष्टिक आदि मद्य का जो प्रयोग किया जाता है, वह भी हेतु विपरीत ही है । जैसा सुश्रुत में लिखा है—जिस प्रकार राजा अपने दर्बारी मनुष्यको गुस्सा होकर यदि निकाल दे तो उस राजा के ही प्रसन्न होने पर उस पुरुषका फिर दर्बार में

प्रवेश हो सकता है अन्यथा नहीं, उसी प्रकार मद्य से मद माता हुआ पुरुषभी मद्य ही से आरोग्य हो सकता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। यह जो कहा है सो मद्य के जातीय से, अर्थात् एक प्रकार के मद्य से उत्पन्न हुआ मदात्यय रोग दूसरे प्रकार के मद्य से नष्ट हो सकता है। और ऊरुस्तम्भ रोग में जो जलमें तैरना लिखा है—सो वहां भी जलकी ठंडक से देहकी गरमी बाहर न निकल कर लिप्तकुम्भकार-पचन न्याय[1] से शरीर के भीतर इकट्ठे हुए मेदस् और कफको पिघला देती है और तैरने से जो

१ इस न्याय पर शृङ्गार तिलक में एक श्लोक है। वह इस प्रकार है।

> अन्तर्गता मदनवह्निशिखावली या,
> सा बाधते किमिह चन्दनचर्चितेन ॥
> यः कुम्भकारपचनोपरि पङ्कलेप-
> स्तापाय केवल मसौ नच तापशान्त्यै ॥

कोई विरहिणी नायिका कामदेवकी अग्नि से सन्तप्त हो रही थी और उसकी सखी उसके, सन्ताप दूर करने के लिए चन्दन आदि का लेप करती थी, पर उसने चन्दन लेप से अपने सन्ताप को और भी अधिक बढ़ते देख सखी से कहा—सखि यह बाहरी सन्ताप नहीं है, यह भीतर की कामदेव रुपी अग्नि की लौ है। यह चन्दन आदि के लेप से शान्त होने की नहीं। उल्टा इससे यह बढ़ेगी ही। क्या तुम नहीं जानतीं कि कुम्हार लोग आँवाँ के ऊपर जो गीली मिट्टी वगैरह लगा देते हैं, वह उसके केवल ताप बढ़ाने के लिए होती है कम करने के लिए नहीं ?।

व्यायाम होता है वह उस पिघले हुए मेदा और कफ को सुखा देता है बाद अकेली वायु फिर अपने स्थान में चली जाती है और ऊरुस्तम्भ रोग अच्छा होजाता है, यह भी हेतु विपरीतही चिकित्सा है। इसी प्रकार सभी विपरीतार्थकारी औषध आदि यथासम्भव हेतुविपरीत औषध आदि में ही अन्तर्गत हो जाँयगे, फिर उससे अलग हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी के दिखलाने का क्या प्रयोजन ?। उच्यत इति-(उत्तर) यद्यपि हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध आदि का अन्तर्भाव (गणना) हेतुविपरीत औषध आदि में ही हो जायगा तौभी आभ्यान्तर-भीतरी, वैधर्म्य [दूसरा धर्म] दिखलाने के लिए उसे पृथक् लिखा। अर्थात् यद्यपि विपरीतार्थकारी हेतुविपरीत में अन्तर्भूत हो जायगा तौभी उसके पृथक् दिखलाने का प्रयोजन यह है, जिससे देखने में मालूम हो कि इस औषध, अन्न या विहार से व्याधि और बढ़जायगी, परन्तु अपनी शक्ति से वह रोगको शान्तही करता है। जैसे-विषरोग में विष। देखने में तो जान पड़ेगा कि विष और अधिक बढ़ जायगा, परन्तु वस्तुतः वह हित ही करता है। इन्हीं वैधर्म्यों को दिखलाने के लिए विपरीतार्थकारी औषधादिकों को पृथक् कहा। चरक में भी इसी अभिप्राय से लिखा है-उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणाञ्चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः। निदान स्था. अ. १। जो अर्थ श्लोक का है वही इसका भी है। विपरीतोऽनुपशय इति—इससे जो विपरीत है उसे अनुपशय कहते हैं, अर्थात् जिन औषध, अन्न और विहार के सेवन से दुःख हो उसे अनुपशय कहते हैं। अनुपशय का पर्याय-समान अर्थ वाला " व्याध्यसात्म्य " शब्द है। अर्थात्

व्याधि का प्रतिकूल । व्याधि पद से दोष भी समझना चाहिए ।
नन्विति—[शङ्का] अनुपशय से व्याधि का ज्ञान होता है या नहीं ? यदि नहीं तो निदान के प्रकरण में उसके लिखने का क्या प्रयोजन ? । यदि होता है तो " विज्ञानं-रोगाणा-म्पञ्चधा स्मृतम् " अर्थात् रोग पहचानने के पाँच उपाय हैं, यह लिखना ठीक नहीं, क्योंकि अब अनुपशय को लेकर छः होते हैं । नैवमिति-[उत्तर] नहीं । अनुपशय से भी व्याधिका ज्ञान होता ही है । जैसा चरक में लिखा है-"गूढ-लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्परीक्षेत " अर्थात् जिस व्याधि का ज्ञान जल्दी न होता हो तो उसका ज्ञान उपशय और अनुपशय से करना चाहिए । जैसे किसी ज्वरी मनुष्य को देखने पर यह न मालूम होता हो कि यह ज्वर वायु से हुआ है या कफ से तो उस समय वातनाशक औषध देनी चाहिए, यदि उस औषध से ज्वर कम हो जाय तो समझना चाहिए कि यह वात ज्वर है, क्योंकि दी हुई औषध उपशय होगई, परन्तु यदि उस औषध से ज्वर न कम हो तो समझना चाहिए यह वात ज्वर नहीं है, क्योंकि दी हुई औषध अनुपशय न हुई-माफिक न पड़ी । यह केवल उदाहरण मात्र है । इसी प्रकार दूसरी व्याधि भी उपशय और अनुपशय से जानी जा सकती है । अनुपशय से व्याधिज्ञान होनेपर भी उसकी गणना निदान में ही है, क्योंकि निदान से भी दोष और रोग बढ़ते हैं और अनुपशय से भी, अतएव रोग ज्ञान के पाँच ही उपाय हैं, छः नहीं । आगे इसी ग्रन्थ में कहेंगे-" निदानोक्ताऽनुपशयः " अर्थात् जो निदान हैं-जिनसे व्याधि उत्पन्न होती है वेही अनुपशय हैं । निदान और अनुपशय में कोई फर्क नहीं है ।

यथा दुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता ॥
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ १० ॥

दोष कई प्रकार से कुपित होते हैं। प्राकृत[1] रूप से, वैकृत[2] रूपसे, अनुबन्ध्य[3] (प्रधानता) से और अनुबन्ध[4] (अप्रधानता) से, तीनों दोष पृथक् २, या मिलकर, दो २ अथवा समस्त। रूक्ष[5] आदि सम्पूर्ण पदार्थों से या उनमें थोड़ों से। इसप्रकार कुपित हुए दोषों से उत्पन्न हुई रोग की उत्पत्ति को सम्प्राप्ति कहते हैं। [यथा चानुविसर्पता] दोषों की गतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। ऊर्ध्वगति, अधोगति और तिर्यग्गति—टेढी चाल। इत्यादि भेदों से विसर्पण अर्थात् गमन करते हुए दोषों से उत्पन्न हुई रोग की उत्पत्ति को सम्प्राप्ति कहते हैं। भावार्थ यह हुआ—अपने २ कारणों से कुपित हुए और ऊर्ध्व आदि-भेदसे गमन

---

१ जैसे-वर्षा में वायु, शरद् में पित्त और वसन्त में कफ।

२ जैसे--वर्षा में पित्त या कफ, शरद् में वायु या कफ और वसन्त में पित्त या वायु।

३ अनुबन्ध्य-प्रधान, एकही दोष अपने आप प्रधान भाव से कुपित हो।

४ अनुबन्ध-अप्रधान। जैसे पहले वायु कुपित हो, बाद पित्त या कफ अप्रधान भाव से कुपित हो, किन्तु प्रधान वायुही रहेगी।

५ जैसे-वायु कुपितहोने के जो लघुरूक्ष आदि कारण हैं, उन सबोंसे, या उनमें दो एक से। पित्तके कुपित होनेके जो विदाही, उष्ण आदि कारण हैं, उन सबों से या उनमें दो एक से। इसी प्रकार कफ के कुपित होने के गुरु पदार्थ, मधुर अतिस्निग्ध आदि जो कारण हैं, उन सबोंसे या उनमें दो एक से।

करते हुए दोषों से उत्पन्न हुए रोग को सम्प्राप्ति कहते हैं। शास्त्रमें प्रयोग करने के लिए और सम्प्राप्ति के लक्षण के लिए सम्प्राप्ति शब्द का पर्याय लिखते हैं—जातिरागतिः। अर्थात् जाति और आगति शब्द का जो अर्थ हो उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। यह लक्षण भी निदान के लक्षण के तरह है। जाति आगति=जन्म। व्याधिका जन्म भी व्याधि के ज्ञान का कारण होता है, क्योंकि बिना जन्म के ज्ञान नहीं हो सकता। यह हरिचन्द्र का कहना है। इससे यह निकलता है कि निदान पूर्वरूप, रूप और उपशय के समान सम्प्राप्ति बोधक रूप से व्याधिका कारण नहीं है, किन्तु बोध्यरूप से है। अर्थात् निदान आदि से उत्पन्न हुई और उत्पन्न न हुई दोनों ही प्रकार की व्याधि का ज्ञान होता है, परन्तु सम्प्राप्ति से उत्पन्न ही व्याधिका ज्ञान होता है। परन्तु दूसरे आचार्य इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि व्याधि का जन्म भी व्याधिके ज्ञानका कारण है और उसे सम्प्राप्ति मानी जाय तो जैसे आलोक (रोशनी) और आँख इन दोनों का आपस में एक से दूसरे का उपकार होता है[1], वैसे इस प्रकार की सम्प्राप्ति से चिकित्सा का कुछ भी उपकार नहीं हो सकता। और यह कोई नियम नहीं है कि जब तक व्याधि उत्पन्न न हो तबतक उसका ज्ञान ही न हो, क्योंकि होने वाली और उत्पन्न हुई व्याधि का ज्ञान निदान और पूर्वरूप से तो होता ही है। जैसे आकाश में लगे हुए नीले २

१ बिना रोशनी के केवल आँख से नहीं देख पड़ता और बिना आँख के केवल रोशनी से भी नहीं देख पड़ता, इस लिए दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

बादलों से होने वाली वृष्टि का ज्ञान होता है। अथेति—यदि यह कहा जाय कि जात शब्दका अर्थ जन्मावच्छिन्न (केवल जन्म मात्र) है, चाहे पहले जन्म हो चाहे पीछे। और बादल से भी भविष्यत् जन्मावच्छिन्न (होनेवाली) ही वृष्टिक ज्ञान होता है, अतएव व्याधि जन्म को ही सम्प्राप्ति मानन ठीक है, चाहे वह जन्म व्याधि ज्ञान के पहले हो या पीछे। जिसका जन्म त्रिकाल में भी नहीं होता, उसका ज्ञान होना तो दुःसाध्य ही है। परन्तु तौभी "व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः" अर्थात् व्याधि के जन्म को सम्प्राप्ति कहते हैं" यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण प्रकाशयुक्त नेत्र पर भी घट जायगा; क्योंकि उसके बिना भी व्याधिका ज्ञान नहीं होसकता इसलिए "दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः" अर्थात् जिसमें दोषों का व्यापार साफ २ मालूम हो, ऐसे व्याधि जन्म को सम्प्राप्ति कहते हैं। यही लक्षण ठीक है। व्याधि के केवल जन्म को सम्प्राप्ति कहते हैं, यह लक्षण ठीक नहीं। वाग्भटने भी "यथा दुष्टेन दोषेण" इस वचन के द्वारा यह स्पष्ट कहा है कि केवल व्याधिजन्म सम्प्राप्ति नहीं, किन्तु सम्प्राप्ति व्याधि की उस उत्पत्ति को कहते हैं जिसमें दोषों का व्यापार [करतूत] साफ २ मालूम हो। ऐसी सम्प्राप्ति मानने, से चिकित्सा में भी अमुक क्रिया अमुक दोष की शान्ति के लिए करनी चाहिए, यह विशेषता भी प्रतीत होगी। जैसे ज्वर में दोषों के व्यापार—आमाशय की क्रियाओं में विकार होना, जठराग्नि का नष्ट हो जाना आदि मालूम होजाने से उसके अनुसार लङ्घन, पाचन, स्वेदन इत्यादि चिकित्सा की आवश्यकता मालूम पड़ती है। यद्यपि ऐसी सम्प्राप्ति—दोषों का वह व्यापार है, जिसे (व्यापारको)

दोष, व्याधि उत्पन्न होने के पूर्व ही अपने और व्याधि-जन्म के बीच में उत्पन्न कर देते हैं और यद्यपि ऐसी सम्प्राप्ति का ग्रहण दोष ग्रहण से ही हो सकता है, क्योंकि दोष अपने अवान्तर अर्थात् बीचके व्यापारको भी अपने अन्तर्गत ही रखते हैं, तथापि चिकित्साकी पूर्वोक्त विशेषता प्रतीत होनेही के लिए से उसका पृथक् वर्णन किया गया है । जैसे पूर्वरूप और रूप दोनों से व्याधि जानी जाती है, दोनों में मामूली कुछभी फर्क नहीं, पर तौभी विशेषता ही के लिए रूप से पृथक् पूर्व रूप का ग्रहण किया गया है ।

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ।
सा भिद्यते यथात्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ११ ॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ १२ ॥

तस्या इति—अब सम्प्राप्ति के उपाधि[1] द्वारा जो भेद होते हैं, उसे "संख्या" पदसे "सा भिद्यते" पदतक दिखलाते हैं। संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल, इतने सम्प्राप्ति के भेद हैं । इन भेदों में जो एक प्राधान्य भेद है, उसका विपरीत अप्राधान्य भेद भी समझना चाहिए, इसी लिए प्राधान्य शब्द के वर्णन में "स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्याम्" कहा है । अर्थात् प्राधान्य का पर्याय स्वातन्त्र्य तो है ही, किन्तु प्राधान्य का विपरीत—अप्राधान्य का भी पर्याय पारतन्त्र्य है । इसी प्रकार बलका विपरीत अबल भी समझना चाहिए । जैसा आगे

१ जिस उपाधि द्वारा (कारण वश) एकही चीनी के मिश्री, बताशा, लायचीदाना, गिंदौरा आदि कई भेद होजाते हैं ॥

" बलाबलविशेषणम् " लिखा है । संख्यादिकमेवेति—यथा-त्रेत्र " इत्यादि पद से अब उन्हीं भेदों का वर्णन करते हैं । संख्या जैसे—" अष्टौ ज्वराः " ज्वर आठ प्रकार के हैं । जैसे—वात से उत्पन्न हुआ ज्वर वात ज्वर, पित्त से उत्पन्न हुआ पित्त-ज्वर और कफ से उत्पन्न हुआ कफ ज्वर । तीन भेद ये हुए । मिले हुए दो दो दोषों से उत्पन्न द्वन्द्वज - वातपित्तज्वर, पित्तकफज्वर और वातकफज्वर । तीन भेद ये । इकट्ठे तीनों दोषों से उत्पन्न हुआ सन्निपात ज्वर (एक भेद), तथा भूत प्रेतादि के लगने से आगन्तुज (एक भेद), इस प्रकार स्थूल रूप से ज्वर के आठ भेद होते हैं । यद्यपीति—कुपित हुए दोषों से उत्पन्न हुआ सन्निपात तेरह प्रकार का होता है । जैसा चरक में लिखा है—कुपित हुए दो दो दोषों से उत्पन्न संसर्गज तीन प्रकार का, तथा एक २ दोष से उत्पन्न तीन प्रकार का, आपस में कम अधिक के होने से ६ भेद, और तीनों के बराबर रहने से एक भेद, इस प्रकार सन्निपात के तेरह भेद होते हैं । इसी प्रकार काम, भय, और शोक आदि से आगन्तुज के भी कई भेद होते हैं, इस तरह ज्वर के बहुत से भेद हो जाते हैं तो " अष्टौ ज्वराः " अर्थात् आठ ज्वर हैं, यह यहां कैसे कहा ! यह शङ्का यहां न करनी चाहिए, क्योंकि ये भेद सूक्ष्म हैं, यहां तो मिले हुए तीनों दोषों से उत्पन्न हुए ज्वर का साधारण रूप से— मोटा मोटी सन्नि-पात एक भेद दिखलाया है । यों तो सूक्ष्म भेद बहुत होंगे । दोषाणामिति—समवेत अर्थात् आपस में मिले हुए वात आदि दोषों की अंशांशविकल्पना अर्थात् मिले हुए दोषों में वात, पित्त और कफ का कितना २ अंश है, इस विचार को वकल्प कहते हैं । तेनेति-यह अंशांशविकल्पना, द्वन्द्वज

और सन्निपातज व्याधि में की जा सकती है। दोषों के अंशों का पता उनके रूक्ष आदि गुणों से लगाया जा सकता है। किसी का एक गुण मिलेगा, किसीका दो और किसी का तीन अथवा उससे अधिक। जैसे किसी को सन्निपात हुआ हो और उसमें यह जानना हो कि किस दोष का अंश अधिक है और किसका कम तो उस समय यह देखना चाहिए कि कि स दोष का गुण अधिक है और किसका कम। जिसका गुण अधिक पाया जायगा उसका अंश अधिक होगा और जिसका गुण कम पाया जायगा उसका अंश कम होगा। यही बात सुश्रुत में भी लिखी है—एक गुण, दो गुण, तीन गुण अथवा सम्पूर्ण गुण वाले पदार्थों से दोष कुपित होकर दूसरे कुपित हुए दोषों से मिलजाता है। यही द्वन्द्व और सन्निपात कहलाता है। (उदाहरण) जैसे वातका गुण रूक्ष, शीत, लघु, विशद (धूलके स्पर्श के तरह भुरभुराहट) आदि है और यही गुण कषायरस और मटर में भी वर्तमान है, इस लिए कषायरस और मटर अपने सभी अंशों से वायुको कुपित करती है। तथा रूक्ष, शीत और लघु गुण वाली चौराई अपने इन तीनों गुणों से वायुको कुपित करने वाली है। काण्डेक्षु (ईख) रूक्ष और शीत गुण से और मद्य केवल रूक्ष गुण से वायुको कुपित करता है। इसी प्रकार हींग कटु और तीक्ष्ण गुणसे, दीप्यक—अजमोदा या जवाइन तीक्ष्ण तथा उष्ण गुण से और तिल केवल उष्ण गुण से पित्त को कुपित करता है। इसी प्रकार मधुर रस और भैंसका दूध अपने सभी गुणों से, राजादन फल [चिरौंजी] स्निग्ध, गुरु और मधुर गुण से

कसेरू शीत और गुरु गुण से तथा दूधवाले * वृक्षों का फल केवल शीत गुणसे कफ को कुपित करता है। दूसरे गुणों के उदाहरण तथा जेज्जट, गदाधर और वाप्यचन्द्र की व्याख्या ग्रन्थ के बढ़जाने के भय से नहीं लिखी गई।

स्वातन्त्र्येति—यहां भी "दोषाणां समवेतानाम्" इतने पदको खींच लाना चाहिए। समवेतानां दोषाणां स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्। अर्थात् आपसमें मिलेहुए दोषों के स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य से व्याधि की प्रधानता और अप्रधानता मालूम करनी चाहिए। जैसे किसी को त्रिदोष हुआ हो तो उस समय यह विचारना चाहिए कि कौन सा दोष स्वतन्त्र भावसे कुपित है और कौन सा परतन्त्र भावसे। जिस दोष का लक्षण सबसे पहले देखपड़ेगा वह प्रधानता से और जिसका लक्षण पीछे देख पड़ेगा वह अप्रधानता से कुपित समझा जायगा। प्रधानता से कुपित हुए दोष से उत्पन्न व्याधि प्रधान और अप्रधानता से कुपित हुए दोष से उत्पन्न व्याधि अप्रधान समझी जायगी। ऐसे समय प्रधान ही व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिए। प्रधान व्याधिके शान्त हो जाने पर अप्रधान आप ही शान्त हो जाती है। यद्यपि "व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्" इस पदमें केवल प्रधान ही शब्द है, अप्रधान नहीं, तौभी पारतन्त्र्य शब्द से अप्रधान शब्द भी निकल आता है। विजय रक्षितने स्वातन्त्र्य शब्द का अनुबन्ध्य और पारतन्त्र्य शब्द का अनुबन्ध अर्थ लिखा है, परन्तु मैंने उनका अर्थ यहां कुछ नहीं लिखा, क्योंकि पाँचवें श्लोक के अनुवाद में इनका अर्थ लिखा दिया है।

---

* न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारिशप्लक्षपादपाः, पञ्चैते क्षीरिणोवृक्षाः। राजनिघण्टु। वट, गूलर, पीपल, पलास, और, पाकड़ ये पाँचे दूधवाले वृक्ष हैं।

हेत्वादिकार्त्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ॥
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ १३ ॥

हेत्वादि*—इति—हेतु (निदान) पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति, इनके सम्पूर्ण लक्षण के प्रकट होने पर व्याधि सबल समझनी चाहिए और कम लक्षण के प्रकट होनेपर अबल समझनी चाहिए×। अबलशब्दमें नञ् समास है "न बलमबलम्"। यहां नञ् (अ) का अर्थ ईषत (कम) है, इस लिए व्याधि को बिलकुल अबल [कमजोर] न समझना चाहिए, किन्तु कम बल वाली जाननी चाहिए।

नक्तमिति—रात्रि, दिन ऋतु, भुक्त—भोजन, इनके अंशों [भागों] से व्याधि घटती और बढ़ती है। अत्रेति ऋत्वंश पदसे कुछ दिन और कुछ रात समझनी चाहिए, अर्थात् ऋतु के कुछ दिन और कुछ रात ऐसी होती हैं, जिनमें व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। वाग्भट ने लिखा है—एक ऋतु का अन्तिम सप्ताह और दूसरी (आने वाली) ऋतु का पहला सप्ताह, ये दोनों मिलकर ऋतुसन्धि कहलाती हैं। [इस ऋतु सन्धि में रोग उत्पन्न होते हैं] अथवा ऋत्वंश का इस प्रकार अर्थ

---

* हेतुरादिर्येषां ते हेत्वादयः। कृत्स्नस्य भावाः कार्त्स्न्यानि
कार्त्स्न्यानि अवयवाश्च कार्त्स्न्यावयवाः।
हेत्वादीनां कार्त्स्न्यावयवास्तैस्तथोक्तैः ॥
बलञ्चाबलञ्च बलाबले तयोर्विशेषणं विशेषः।

× निदान आदि पाँच में से किसी एक का भी पूरा लक्षण मिले तो व्याधि सबल समझनी चाहिए, यह नहीं कि पाँचो का पूरा लक्षण मिले तभी व्याधि सबल समझी जाय।

समझना चाहिए— जैसे एकही दिन और रात के तीन अंश [समय] व्याधि के काल होते हैं, वैसे एकही ऋतुके तीन अंश व्याधि के काल नहीं होते, किन्तु पूरे एक वर्ष की पूरी एक ऋतु-रूप अंश व्याधि के काल होते हैं, क्योंकि पूरी ही ऋतु को व्याधि का कारण माना है। यथामल—यथा-दोष, अर्थात् दोषों के अनुसार रात्रि आदि के अंशो से व्याधि-काल जानना चाहिए। जैसे—रात के पहले भागमें कफ, मध्यभाग में पित्त और अन्त भागमें वायु कुपित होता है। इसी प्रकार दिन के पहले भाग में कफ, मध्यभागमें पित्त और अन्तमें वायु कुपित होता है। ऋत्वंशसे-वसन्तमें कफ का, शरद् में पित्त का और वर्षा में वायु का कोप होता है। इसी प्रकार भोजन के आदिमें कफ का, मध्यमें [पकते समय] पित्तका और अन्तमें--पचजाने पर वायुका कोप होता है जैसा वाग्भट का वचनहै *—यों तो वात, पित्त और कफ सारे शरीर में व्याप्त रहते हैं, पर विशेष कर हृदय और नाभि के ऊपर, नीचे और बीचमें रहते हुए वय [अवस्था], दिन रात्रि और भोजन के आदि, मध्य और अन्त भागमें क्रम से कुपित होते हैं। व्याधि के काल के जानने से चिकित्सा करने में सुभीता होता है।

नन्विति—[शङ्का] सम्प्राप्ति का भेद दिखलाते हुए चरकने संख्या के तरह सम्प्राप्ति का एक " विधि " भेद भी दिखलाया है। जैसे—व्याधि दो प्रकार की होती है। एक निज [दोषज] और दूसरी आगन्तुज। रक्तपित्त दो प्रकार का

* ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिकाः क्रमात्॥

होता है. इत्यादि। परन्तु यहां सम्प्राप्ति का विधि भेद क्यों नहीं दिखलाया ? । उच्यते-[उत्तर] विधि संख्या के ही अन्तर्गत है, अतएव संख्या के कहने से विधिका भी ग्रहण होगया, क्योंकि यह निश्चय है कि विधि संख्या के बिना नहीं रहती। किन्तु विधि और संख्या में जो कुछ भेद होता है वह यह है—प्रकार (तरह) को विधि कहते हैं और यह प्रकार एकही प्रकारकी वस्तु में कारणवश किसी दूसरे धर्म के सम्बन्ध होने पर होता है,परन्तु वस्तुतः उस वस्तु में भेद नहीं होता। जैसे एकही रक्तपित्त ऊर्ध्वग और अधोग भेद से दो प्रकार का होता है। है एकही रक्तपित, परन्तु ऊपर और नीचे दो रास्ते से निकलने के कारण दो प्रकार का हो जाता है। किन्तु संख्या में परस्पर कुछ न कुछ भेद अवश्य रहता है। जैसे "चार घड़ा" आठ ज्वर" चारो घड़ों में और आठो ज्वर में परस्पर कुछ भेद अवश्य है। एक घड़ा दूसरे घड़ा से और एक ज्वर दूसरे ज्वर से भिन्न है। अत्रैवेति—यहां ही विधि का अर्थ प्रकार होता है और वह प्रकार भिन्न व्याधि में नहीं होता। यदि संख्या आदि से भिन्न हुई व्याधि में होता भी है तो उस भिन्न व्याधि के कारण के एक होने पर ही होता है, क्योंकि किसी प्रकार से अभेद होने पर ही प्रकार हो सकता है, चाहे वह अभेद व्याधि में हो या उसके कारण में हो, जैसे संख्या आदि से रक्तपित्त भिन्न भी होजाय तौभी ऊर्ध्वग और अधोग भेद से रक्तपित्त जो दो प्रकार का होता है, सो उस दो प्रकार के रक्तपित्त का कारण-"दोषवैषम्य" एक ही होता है। तथाचेति-कुछ लोग विधि और संख्या का लक्षण इस प्रकार करते हैं-नैयायिक लोगों का कहना है कि जहां एकही वस्तु में किसी समान (एकही) धर्म द्वारा भेद किया

जाना है उसे विधि या प्रकार कहते हैं, परन्तु संख्या में भेद रहना ही है। वैयाकरण लोगों का भी मत है कि जिस वस्तु में परस्पर अन्वय (कुछ सम्बन्ध) होता है उसे प्रकार कहते हैं और जिसमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता उसे भेद या संख्या कहते हैं। ये सब कल्पनाएँ वाप्यचन्द्रकी की हुई हैं।

नन्विति-(शङ्का) जिस प्रकार व्याधिका ज्ञान अशांश विकल्पना द्वारा होता है, उस प्रकार संख्या से तो नहीं होता, फिर संख्या को व्याधि के ज्ञानका कारण क्यों माना है ?। उच्यते (उत्तर) ठीक है, व्याधिका ज्ञान उससे न हो, पर व्याधि के दोषों का ज्ञान तो उससे होता ही है, क्योंकि पहले स्वरूप मात्र से—साधारणरूप से व्याधि के ज्ञान हो जाने पर फिर उसकी चिकित्सा करने के लिए विशेषरूपसे ज्ञान करना आवश्यक होता है कि यह व्याधि कौनसी है वातिक, पैत्तिक अथवा श्लैष्मिक, क्योंकि व्याधि उत्पन्न होते ही दोषोंके भेदों से भिन्न (कई प्रकार की) होजाती है, इसलिए यह पता लगाना आवश्यक है कि वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, इन भेदों में से यह व्याधि कौनसी हो। अतएव संख्या से भी व्याधि का ज्ञान होताही है, अर्थात् संख्या से भी चिकित्सा में बड़ी सहायता मिलती है।

इति प्रोक्तो निदानार्थस्तद् व्यासेनोपदेक्ष्यते ॥
सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १४ ॥

अब पीछे कहे हुए पाँचों निदानों की समाप्ति दिखलाते-हैं—" इति प्रोक्तो निदानार्थस्तद् व्यासेनोपदेक्ष्यते " इति-इति शब्द का अर्थ समाप्ति है। यहां निदान शब्द निदान पूर्वरूप आदि पाँचों निदानों का वाचक है। अर्थात् उन पाँचों

निदानों का अर्थ—लक्षण और स्वरूप थोड़े में कह दिया। अब आगे चलकर उनका विस्तार से वर्णन करेंगे। अर्थात् इस ग्रन्थ भरमें हर एक रोगों के निदान, पूर्वरूप आदि पाँचों निदानों का वर्णन विस्तार से किया जायगा।

सर्वेषामिति--रोग का कारण दो प्रकार का होता है एक विप्रकृष्ट (दूरका) और दूसरा सन्निकृष्ट (नजदीकका)। विप्रकृष्ट जैसे—विरुद्ध आहार आदि। सन्निकृष्ट जैसे—वात, पित्त आदि। अब "सर्वेषाम्" इत्यादि पद द्वारा यह दिखलाते हैं कि वे सन्निकृष्ट कारण—वातादि दोष सभी रोगों के कारण हैं, अर्थात् इन्हीं से सब रोग उत्पन्न होते हैं। जैसा चरक में लिखा है—रोग बिना दोषके उत्पन्न नहीं होते, इस लिए बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि जिस व्याधि की चर्चा नहीं की है, उसे भी दोषों के लक्षणों से जानकर चिकित्सा करे।

आगन्तुज व्याधि का कारण तो दोष होता नहीं, फिर यह कैसे कहा कि सब रोगों के कारण वातादि दोष ही हैं!। यह शङ्का यहां न करनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार जब कोई चीज़ पैदा होती है तो उस समय उसमें कोई भी गुण नहीं रहता परन्तु बाद हो जाता है, उसी प्रकार यद्यपि आगन्तुज व्याधि के उत्पत्ति-कालमें दोष कुपित नहीं होते, परन्तु बाद अवश्य कुपित हो जाते हैं अतएव परम्परा सम्बन्धसे आगन्तुज व्याधि के भी कारण दोषही हैं, क्योंकि आगन्तुज व्याधि—चोट आदि में पीड़ा आदि वातादि दोष के बिना नहीं हो सकती। चरक में भी लिखा है-- * आगन्तुज

* आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति। अत्र जघन्यम् पश्चात्।

व्याधि के उत्पन्न होने पर पहले केवल पीड़ा मात्र होती है और बाद दोष कुपित होते हैं। इस श्लोक के निदान शब्द का अर्थ " कारण " और मल शब्द का अर्थ " दोष " है, क्योंकि ये शरीर को मलिन (गन्दा) करते हैं।

नन्विति—(शङ्का) अच्छा ! वात आदि " दोष " क्यों कहलाते हैं ? । इसके उत्तर में कोई यह कहते हैं—
"स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वम् " अर्थात् ये वात आदि स्वतन्त्रही—बिना किसी की सहायता से- आप ही आप रस आदि—धातु को दूषित करते हैं. अतएव ये दोष कहलाते हैं । इस लक्षण में स्वतन्त्र पद इस लिए ग्रहण किया, जिससे दूष्य—दूषित होने वाले—रस आदि दोष न कहलाँय, क्योंकि ये वात आदि से दूषित होकर ही दूसरे धातु को परस्पर दूषित करते हैं, स्वतन्त्र नहीं । इस पर कोई यह शङ्का करतेहैं—उस लक्षण में स्वतन्त्र पद से क्या मतलब ?, किसी दूसरे दोषकी अपेक्षा न रखना-सहायता न लेना, अथवा किसी कारण की सहायता न लेना ? । यदि पहली बात मानी जाय तो केवल अकेला वात ही दोष कहलायगा, पित्त और कफ नहीं, क्योंकि ये दोनों स्वयं तो कुछ कर ही नहीं पाते, किन्तु वायुकी सहायता से ही व्याधि उत्पन्न करते हैं । जैसा लिखा है--पित्त और कफ स्वयं प—अङ्गु समर्थ या अपाहिज हैं, इन्हें वायु जहां लेजाती है वहीं बादलों की तरह जाते हैं । यदि दूसरी बात मानी जाय तो वायु भी दोष न कहलायगा, क्योंकि जैसे पित्त और कफ वायुकी सहायता से शरीर को दूषित करते हैं. उसी प्रकार वायुभी निदान [विरुद्ध आहार विहार] के द्वारा ही कुपित होकर शरीर को दूषित करती है । अतएव दोष के इस लक्षण में सब प्रकार से दोष आता है,

इस लिए "प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्" अर्थात् जो प्रकृति को उत्पन्न करके शरीर को दूषित करता है उसे दोष कहते हैं, यह लक्षण ठीक है। यह लक्षण रस आदि धातु पर नहीं घट सकता, क्योंकि यद्यपि ये शरीर दूषित करते हैं, पर प्रकृति नहीं पैदा करते। किसी भी वैद्यक शास्त्र में वातप्रकृति, पित्तप्रकृति और कफप्रकृति के अतिरिक्त रसप्रकृति, रक्तप्रकृति आदि का होना नहीं लिखा है। वात प्रकृति आदि तभी होती है जब वात आदि से दूषित वीर्य और रज के द्वारा गर्भ होता है। जैसे—वात से दूषित अर्थात् वाताधिक शुक्रशोणित से यदि गर्भ होगा तो उस पुरुष या स्त्री की वातप्रकृति होगी, इसी प्रकार यदि पित्त दूषित से होगा तो पित्त प्रकृति और कफ दूषित से होगा तो कफ प्रकृति होगी। जैसे चरक में लिखा है- मनुष्य की वात आदि प्रकृति वात आदि दोषों से ही होती है, तथा वातप्रकृति वाले मनुष्य सदा रोगी रहते हैं। सुश्रुतमें भी लिखा है— वातप्रकृति वाले पुरुष का पैर फटा रहता है, नींद नहीं आती और चित्त चञ्चल रहता है। परन्तु प्रकृति और रोग में भेद होता है— प्रकृति से अपथ्य सेवन द्वारा विशेष कष्ट नहीं होता परन्तु रोग से होता है। जैसा लिखा है— विषका कीड़ा विषसे नहीं मरता वैसेही प्रकृति से विशेष कष्ट नहीं होता, क्योंकि प्रकृति से ही शरीर उत्पन्न होता है। यहां मैंने प्रकृति के विषय में बहुत थोड़ा लिखा है। यदि विशेष देखने की इच्छा हो तो सुश्रुत के प्रश्न विधान नामक श्लोक वार्तिक और और उसकी टीका में देखना चाहिये।

अच्छा! "प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्" अर्थात् प्रकृति उत्पन्न करने वाले को दोष कहते हैं, इतना ही लक्षण यदि दोष का

हो तो क्या हर्ज ? । ठीक है, इतने लक्षण से भी रस रक्त आदि तो दोष न कहलायँगे, परन्तु दोषों के स्वरूप का पता न लगेगा कि किस कारण से ये दोष कहलाते हैं । और " दुष्टि कर्तृत्वम् " इतना और जोड़ देने पर यह मालूम हो जाता है कि ये शरीर को दूषित करते हैं अतएव दोष कहलाते हैं । सुश्रुत में जैसे वायु आदि दोषों का वर्णन किया है, वैसेही रस आदि धातुओं का भी वर्णन—प्रकोप-काल, प्रकोपण (जिन पदार्थों के सेवन से कुपित होते हैं), इनसे उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा आदि का वर्णन किया है, परन्तु सुश्रुत के प्राचीन टीकाकार आषाढ और धर्मदास आदि ने रस आदि धातुओं को भी दोष माना है, परन्तु इस लक्षण से दोष नहीं हो सकता, और आजकल के वैद्य लोग भी रक्त आदि धातुकओंको दोष नहीं मानते, अतएव "प्रकृत्या-रम्भकत्वेसति " इत्यादि लक्षणही ठीक है, जिससे रस आदि धातु दोष न कहलाँय ।

अच्छा ! यदि दोष ही से व्याधि उत्पन्न होती है तो दोष तो शरीर में सदा बनेही रहते हैं, इस लिए सदाही व्याधि होनी चाहिए ? इस शङ्कापर लिखते हैं—" कुपिताः " अर्थात् कुपित हुए दोषों से व्याधि उत्पन्न होती है, बिना कुपित हुए दोषों से नहीं ।

तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ॥
निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥ १८ ॥

ऊपर यह कहा है कि दोष कुपित होकर व्याधि उत्पन्न करते हैं, इसपर किसी का कहना है कि वे अपने आप कुपित होते हैं अथवा किसी कारण से ? । यदि पहली बात मानो

जाय तो फिर वही दोष होगा; अर्थात् दोष शरीर में सदा बने रहते हैं और सदाही अपने आप कुपित हो कर व्याधि उत्पन्न करेंगे। यदि दूसरी बात मानी जाय तो वे कौन से कारण हैं, जिनसे ये कुपित होते हैं?। इस पर लिखते हैं—"विविधाहितसेवनम्" विविध अर्थात् अनेक प्रकार के अहित—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम का सेवन दोषों के कोप का कारण होता है। असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग आदि का वर्णन छठवें श्लोक के अनुवाद में होचुका है, इस लिए फिर यहां नहीं किया गया।

किमिति—क्या इतनेही निदान हैं या और भी! इस पर "निदानार्थकरः" इत्यादि चरक का वचन लिखते हैं—इस श्लोक के "रोगस्यापि" पद में जो अपि शब्द है, उसका अन्वय दूसरी जगह होता है—"रोगोऽपि रोगस्य निदानार्थकर उपजायते" अर्थात् निदान का जो अर्थ-प्रयोजन-काम (व्याधि उत्पन्न करना) है, उस प्रयोजन को रोग भी करता है। भाव यह हुआ कि जैसे निदान से रोग उत्पन्न होते हैं वैसे रोगसे भी रोग उत्पन्न होते हैं। "रोगोऽपि रोगकरः" अर्थात् "रोग भी रोगको उत्पन्न करता है" यह सीधा न लिख कर जो "निदानार्थकरः" यह लिखाहै, उसका यह अभिप्राय है कि जब एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करता है, तो दूसरे निदान से प्रबल होकर ही करता है अपने आप नहीं।

तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते॥
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते॥ १६॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च

अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥
(दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते)
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्सञ्जायते क्षयः ॥
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युजायते ॥ १८ ॥

पहले कह आए हैं कि रोग से भी रोग उत्पन्न होते हैं। अब "तद्यथा" इत्यादि श्लोक द्वारा उन्हीं को उदाहरण देते हुए साफ करते हैं—जैसे—ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त होता है और रक्तपित्त से ज्वर। "ताभ्यां रक्तपित्तज्वराभ्याम्" रक्तपित्त और ज्वरसे शोष (राजयक्ष्मा) उत्पन्न होता है। प्लीहा के बढ़ने से जठर रोग—उदर रोग उत्पन्न होता है। जठर से शोथ (सूजन) होता है। अर्श (बवासीर) से दुःख अर्थात् बहुत पीड़ा देने वाला उदर रोग होता है। वाप्यचन्द्रका मत है कि इस दुःख शब्दको लिङ्ग बदल २ कर सभी ज्वर आदि शब्दों के साथ जोड़ना चाहिए। अर्थात् पुँल्लिङ्ग ज्वर आदि शब्द के साथ "दुःखः" और नपुंसक लिङ्ग रक्तपित्त आदि शब्द के साथ "दुःखम्" जोड़कर वहां भी पीड़ाकर अर्थ करना चाहिए। अर्शही से गुल्म रोग भी पैदा होता है। दिनमें सोने से* प्रतिश्याय—सरदी या जुकाम होता है। प्रतिश्याय से खाँसी होती है। "कासात्सञ्जायते क्षयः" यहां "ओजः प्रभृतीनाम्" इतने पदका अध्याहार

---

* आदि पदसे सुश्रुत में कहे हुए निदानों को भी समझना चाहिए।
जैसे—नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमोरजःशीतमतिप्रतापः॥
सन्धारणम्मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्॥

करना चाहिए—ऊपर से लाना चाहिए। अर्थ यह होता है कि कास से ओज आदि धातुओं का क्षय(नाश) होने लगता है और उस क्षय का कारण शोषरोग (राजयक्ष्मा) होता है। यहां कितने लोग, जिस पाठका का व्याख्यान हरिचन्द्र आदि ने किया है, उसी को पढ़ते हैं,वह पाठ इस प्रकार है- *"क्षयोरोगस्यहेतुत्वे शोषश्चाप्युप जायते" इसका अर्थ यह होता है-क्षय-राजयक्ष्मा और उरोग (उरः क्षत), ये दोनों शोष रोग के कारण होते हैं।

नन्विति—(शङ्का) चरकने निदानस्थान में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम, तीन प्रकार का निदान कहा है परन्तु "निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते" यह वचन भी चरक का ही है। इस वचन के द्वारा चौथा निदान रोग भी होता है अतएव चरकने ऐसी विरुद्ध बातें कैसे कहीं !, इसके उत्तर में किसी का कहना है कि चरकने जो तीन प्रकार का निदान कहा है वह निदान सभी रोगों का है और फिर जो रोगों को निदान बतलाया, सो हर एक रोगों का नहीं किन्तु इने गिने रोगों का ही है, क्योंकि सभी रोग रोग से उत्पन्न नहीं होते। किसी का कहना है कि रोग को जो निदान बतलाया है, वह भी चरक के कहे हुए असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि तीन निदान के बिना नहीं होता, अतएव रोग भी तीन निदानों के ही अन्तर्गत है, तीन से अतिरिक्त रोग चौथा निदान नहीं है, क्योंकि जब तक ज्वर असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि तीन निदानों में से

---

*क्षयश्च उरोगश्च उरः क्षत इत्यर्थस्तयोः समाहारद्वन्द्वः, क्षयोरोगं तस्य हेतुत्वे कारणत्वे शोषश्चाप्युपजायते। उरसो रोग उरोगः,पृषोदरादित्वात्सिद्धिः।

किसी एक से बढ़ न जायगा तब तक रक्तपित्त आदि रोग को उत्पन्न नहीं कर सकता, इस लिए साक्षात् या परम्परा से ये तीन ही निदान हैं। चौथा नहीं।

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः ॥
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ १९ ॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वङ्कुरुतेऽपि च ॥
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसङ्कराः ॥ २० ॥

ऊपर जो रोगों को दूसरे रोगों का निदान बतलाया है, सो वे रोग उत्पन्न होते ही दूसरे रोगोंको उत्पन्न करते हैं अथवा कुछ दिनों के बाद ? इस आशय पर लिखते हैं— " ते पूर्वं केवला रोगाः " इति। अर्थात् जब तक कोई उपबृहक (बढ़ाने वाला) हेतु नहीं होता तबतक वे रोग केवल उत्पन्नही होकर रहजाते हैं, परन्तु जब पीछे कोई दूसरा हेतु—निदान उन रोगों को बढ़ा देता है, तब वे हेतु के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं—रोग उत्पन्न करते हैं। अर्थात् जब रोगी पुरुष पथ्य छोड़ देता है तब उसी अपथ्य से रोग बढ़ कर दूसरे रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे ज्वर रक्त पित्त को। पहले कह आए हैं कि रोग से रोग उत्पन्न होते हैं। अब उसकी विचित्रता दिखलाते हैं- कश्चिदिति—कोई रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करके स्वयं- आप शान्त हो जाते हैं और कोई नहीं शान्त होते। इस प्रकार बहुत से रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करके बने रहते हैं। जैसे—प्रतिश्याय कास को उत्पन्न करता है, पर आप नष्ट नहीं होता। अर्श उदररोग और गुल्म—वायु गोला को उत्पन्न करता है, परन्तु आप नष्ट

नहीं होता। इन व्याधियों से बहुत दुःख होता है और इनकी चिकित्सा भी मुश्किल से की जा सकती है, इस लिए इन व्याधियों को कृच्छ्रसम-कष्ट साध्य या कष्टदायक बतलाया है।

तस्माद् यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम् ॥
ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥२१॥

जिन वैद्यों को पहले कहे हुए निदान, पूर्वरूप, आदि पाँचों निदानों का भली भाँति ज्ञान रहता है, उन्हें एक प्रकार की सिद्धिसी होजाती है कि वे रोग पहचान कर चिकित्सा द्वारा प्रायः रोग अच्छाही कर देते हैं, इस लिए इन्हें अवश्य जानना चाहिए। इसी बात को "तस्माद्" इत्यादि श्लोक द्वारा दिखलाते हैं। अर्थात् जिन सद्वैद्यों को यह इच्छा है कि हमको रोग अच्छे करने में बड़ी भारी सिद्धि और यश प्राप्त हो जाय, उन्हें चाहिए कि आगे जो रोगों का विनिश्चय—निदान कहेंगे उनके जानने में कोशिश करें।

आगे जिनरोगों का वर्णन करेंगे, उनमें प्रकृतिसमसमवाय* और विकृतिविषमसमवाय+ जानने के लिये चरक में कहे गये वायु आदि दोषों के गुण लिखते हैं—

---

* प्रकृति (कारण) के सम-सदृश समवाय (कार्य का होना) जैसे—कपड़ा का कारण-सूत सफेद रहता है तो उसका कार्य—कपड़ाभी सफेद ही होता है।

+ विकृति (विकार को प्राप्त हुए कारण) के विषम प्रतिकूल समवाय (कार्य का होना)। जैसे कारण-हल्दी पीली और चूना सफेद होता है पर इनका कार्य "रोली" लाल होती है।

रूक्ष,शीत,लघु,सूक्ष्म – शरीर के सूक्ष्म छिद्रों में घुसने वाला. चञ्चल, विशद,—धूलिके स्पर्श के सदृश भुरभुराहट और खर, इतने गुण वायु[1]के हैं। इन गुणों से विपरीत गुण वाले पदार्थों से वायु शान्त होती है। जैसे रूक्षका विपरीत गुण स्निग्ध होताहै। चिकना, गरम, तीखा, पतला, खट्टा, चलने वाला और कडुवा,इतने गुण पित्त[2]के हैं। इन गुणों से विपरीत गुणवाले पदार्थों से पित्त शान्त होता है। गुरु, शीत, कोमल, चिकना, मीठा, स्थिर, और पिच्छिल, इतने गुण कफ[3]के हैं। इन गुणों से विपरीत गुण वाले द्रव्य से कफ शान्त होता है।

---

१ रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥

२ सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैः पित्तमाशु प्रशाम्यति ॥

३ गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥

यदि किसी को पित्तज्वर आया हो और उसमें पित्त ही के गुणों के अनुसार दाह मूर्च्छा आदि लक्षण पाये जाँयगे तो वह ज्वर प्रकृतिसम समवाय कह लायगा, क्योंकि दाह मूर्च्छा आदि लक्षण ज्वरके कारण-पित्तके समान ही हैं, परन्तु यदि उसी ज्वर में कफ के लक्षण—अरोचक, गौरव आदि पाये जाँयगे तो, वह विकृतिविषमसमवाय कह लायगा। जैसे प्रकृतिस्थ मनुष्य कुछ नहीं करता,पर विकृतिस्थ (क्रुद्ध) होनेपर सभी कुछ कर डालता है वैसेही प्रकृतिस्थ दोषों के लक्षण उनके अनुकूलही होते हैं, किन्तु विकृतिस्थ दोषों के लक्षण उनके प्रतिकूल हो जाते हैं।

भदैनी-वर्णन।

वैद्य वृन्द वृन्दारक को पुर त्रिभुवन सुन्दर।
जहँ त्रिदोष हर देवधुनी को धार धवल तर॥
दिवोदास ह्वै धन्वन्तरि अवतरेउ जहाँ पर।
किय अशेष उपदेश चिकित्सा को करुणा कर॥
यथा नाम अबहूँ रहत देव अंश ह्वै भिषक् गण।
शंकर पुर नर नारि हित दया वीर आरति हरण॥१॥
एहि पुर सप्त पुरी रहत यथा ठाम अभिराम।
शिरो भाग माया पुरी पूरत जन मन काम॥
पूरत जन मन काम पाप काटनको असिसम।
असी गंगा तट लोल हंस[1] चहुँ ओर मनोरम॥
बर्णौं वेदव्यास महामणि खानि भद्रपुर[2]।
कहँ लगि महिमा कहिय शुक्ल यजु[3] प्रकट्यो एहिपुर॥२॥
कलिहू में एहि पुररहे तुलसिदास से धीर।
भव भेषज रघुनाथ यश विरचि हरी जगपीर॥३॥
सदा रही एहि पुर बनी द्विज राजन की भीर।
अद्वितीय निज गुणन में कीरति अति कमनीय॥४॥
एहि पुर मे भे देवराज[4] अरु कृष्ण देव कवि[5]।

---

१ लोलार्क कुण्ड।
२ भदैनी।
३ महर्षि याज्ञवल्क्य ने भदैनी में लोलार्क कुण्ड पर तपस्या की और सूर्य भगवान् ने उन्हें शुक्ल यजुर्वेद का उपदेश किया।
४ ये बड़े भारी पंडित थे, निजाम हैदराबाद के यहां इनका बड़ा मान था।
५ ये अमृतराव पेशवा के यहां के पण्डित थे।

पण्डित दत्त प्रयाग[६] देखिगे काशिनाथ द्वि ॥
परमेश्वरी प्रसाद[७] द्विवेदी रत्न पासले[८] ।
वैयाकरण, अनूप वैद्य ठाकुर प्रसाद से[९] ॥
गंगाधर[१०] कवि कुल मुकुट ज्योतिर्विद बलदेवसे ।
कर्मठ द्विज लछमण सरिस तप निधान नृप देवसे ॥५॥
वैद्यराज गोपाल धन्वन्तरि बने कन्हैया ।
श्री बख्शीजी तान सेन सम ध्रुपद गवैया ॥
श्री राणा रण वीर अरु जेनरल रण पण्डित ।
यश सुपेण सो पूर्ण दत्त को सदा अखण्डित ॥
हरिनारायण तासु सुत ग्रन्थ रोग परिचय कियो ।
अमित मान वरदान द्विन लेखा गुणिजन को कियो ॥६॥
होय देश उपकार गुणी जनन में यश लहै ।
हिन्दी को भण्डार ऐसे विषयों से भरे ॥ ७ ॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी
भदैनी-काशी ।

---

६ ये बड़े भारी वैयाकरण पं० काशी नाथ शास्त्री जी के समकक्ष विद्वान् थे ।
इनका और शास्त्री जीका शास्त्रार्थ ३ दिन तक हुआ था।
७ ये कीन्स कालेज में व्याकरण के प्रोफेसर थे ।
८ यह बड़े भारी पंडित वर्तमान काशिराजके गुरु थे ।
९ ये ६ मास पहलेही नाडीद्वारा लोगों की मृत्यु बतलादें ।
१० महामहोपाध्याय पं० गङ्गाधर शास्त्री सी. आई. ई. का जन्म यहीं हुआ था ।
अब भी यहां सब विषय के अद्वितीय पण्डित हैं ।